वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं. 57
ISBN 978-93-80353-08-1

जैन बाल भारती

(भाग-2)

– रचयित्री –
परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि
श्री ज्ञानमती माताजी

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी के पावन सानिध्य में
21 दिसम्बर 2008 को भारत की राष्ट्रपति महामहिम श्रीमती प्रतिभा देवीसिंह
पाटील के करकमलों द्वारा उद्घाटित ''विश्वशांति अहिंसा सम्मेलन'' के अनन्तर
पूज्य माताजी द्वारा घोषित 'शांति वर्ष-2009' के अन्तर्गत प्रकाशित

-प्रकाशक-
दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान
जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.
फोन नं.- (01233) 280184, 292943
Website : www.jambudweep.org
E-mail : ravindrajain@jambudweep.org

तृतीय संस्करण	आश्विन शु. पूर्णिमा	मूल्य
2200 प्रतियाँ	शरदपूर्णिमा, 4 अक्टूबर 2009	20/-रु.

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं वृहद् ग्रंथों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएं भी प्रकाशित होती रहती हैं।

–: संस्थापिका एवं प्रेरणास्रोत :–
परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी

–: मार्गदर्शन :–
प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी

–: निर्देशन :–
धर्मदिवाकर पीठाधीश क्षुल्लकरत्न श्री मोतीसागर जी महाराज

–: सम्पादक :–
कर्मयोगी ब्र. रवीन्द्र कुमार जैन

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण-सन् 1982, प्रतियाँ-3300, द्वितीय संस्करण-सन् 1993, प्रतियाँ 2200

कम्पोजिंग - ज्ञानमती नेटवर्क
जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

प्रस्तावना

–ब्र. कु. आस्था जैन (संघस्थ)

अहिंसा प्रधान मेरी इण्डिया महान है।
इण्डिया में जन्मे महावीर और राम हैं।।
यहाँ की पवित्र माटी बनी चंदन, उसे करो सब नमन-2।

अनेक महापुरुषों के चरणरज से यहाँ की मिट्टी भी पवित्र हो गई है। जहाँ गुरुओं के चरण पड़ जाते हैं, वहाँ जंगल में भी मंगल हो जाता है। हस्तिनापुर के जंगल में मंगल कर देने वाली, जम्बूद्वीप की पावन प्रेरिका, गणिनीप्रमुख आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी को आज कौन नहीं जानता है? जिन्होंने लगभग 250 छोटे-बड़े ग्रंथों का अपनी कलम से सृजन किया।

जहाँ पूज्य माताजी ने अष्टसहस्री जैसे बड़े-बड़े क्लिष्ट ग्रंथों का हिन्दी अनुवाद किया है, वहीं पर बालकों के लिए, जनसाधारण के लिए, अत्यन्त सरल भाषा में बाल विकास के 4 भाग, 'जैन बाल भारती' के 3 भाग, नारी आलोक के 3 भाग, बनाकर महान उपकार किया है।

इस 'बाल भारती' पुस्तक के द्वितीय भाग में सर्वप्रथम पूज्य माताजी ने 'देवदर्शन का माहात्म्य' दर्शाया है। जिनेन्द्र देव का दर्शन करने से अनन्त उपवास का फल मिलता है। कर्मों का क्षय होता है और अनुपम सुख से सम्पन्न परमपद की प्राप्ति होती है। धवला पुस्तक 6, पृ. 427 पर लिखा है–

''दर्शनेन जिनेन्द्राणां पापसंघातकुंजरम्।
शतधाभेदमायाति गिरिर्वज्रहतोयथा।।''

अर्थात् भगवान के दर्शन से पाप समूह के सौ-सौ टुकड़े हो जाते हैं, जैसे वज्र गिरने से पर्वत के सौ-सौ टुकड़े हो जाते हैं।

इसी तरह 'णमोकार मंत्र' का अचिन्त्य माहात्म्य है। एक बंदर भी णमोकार मंत्र के प्रभाव से संसार समुद्र से तिर गया है, तो मनुष्यों की बात ही क्या? ''चक्रवर्ती का वैराग्य'' यद्यपि चक्रवर्ती के पास विशाल वैभव रहता है, छ्यानवे हजार रानियाँ होती हैं, फिर भी वे इन सबका त्याग कर दीक्षा को धारण करते हैं। वैराग्य होने पर उन्हें सम्पत्ति तृण के समान तुच्छ लगने लगती है। इस विषय पर गुरु शिष्य की वार्ता चल रही है-

शिष्य–क्या घर में रहकर निर्मम नहीं हुआ जा सकता है ?

गुरुजी–यदि घर में रहकर भी निर्ममता हो जाती और मुक्ति मिल जाती, तो तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र आदि महापुरुष क्यों घर छोड़ते और नग्न होकर क्यों वन में विचरते?

शिष्य–इस पंचमकाल में निर्दोष मुनि होते नहीं? फिर तो घर में मोक्ष की साधना अच्छी है।

गुरु जी–ऐसी बात एकांत से नहीं है। मोक्ष पाहुड़ ग्रंथ में श्री कुन्दकुन्द देव कहते हैं–

''भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेई साहुस्स।
तं अप्प सहावठिदे णहु मण्णइ सो हु अण्णाणी।।''

इस पंचमकाल में भरत क्षेत्र में साधुओं को आत्म स्वभाव में स्थित होने पर धर्मध्यान होता है, जो सेसा नहीं मानते हैं वे अज्ञानी हैं। आज भी लौकान्तिक पद प्राप्त कर एक मनुष्य भव धारण कर मोक्ष जा सकते हैं।

इस प्रकार इन सभी वार्ताओं को पढ़कर हमें वैराग्य होना चाहिए कि जब चक्रवर्ती ने अपने विशाल वैभव को त्यागकर दीक्षा ले ली, तब हमारे पास क्या है? और हमें यह जानकर, रत्नत्रय निधि को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

बीसवीं शताब्दी के लिए वरदान स्वरूप, आर्यिका परम्परा की पोषिका गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी वर्तमान युग में अपने उपदेश एवं लेखन के माध्यम से जिनधर्म को संसार में फैला रही हैं। उनका निर्मल चारित्र उनके गुरु श्री वीरसागर जी और श्री वीरसागर जी के गुरु चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी के गौरव को बढ़ाने वाला है।

श्री चारित्रचक्रवर्ती ने जैसे मुनिपथ बतलाया।
उसी तरह क्वांरी कन्याओं को तुमने पथ दर्शाया।।
सदी बीसवीं लेकर आई ज्ञानमती जयकारा।
रोम रोम से निकले माता नाम तुम्हारा।।

इन्हीं शब्दों के साथ पूज्य माताजी के चरणों में कोटिशः नमन।

पुस्तक की रचयित्री, परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी का संक्षिप्त-परिचय

–प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

जन्मस्थान–टिकैतनगर (बाराबंकी) उ.प्र.

जन्मतिथि–आसोज सुदी 15 (शरदपूर्णिमा) वि. सं. 1991 (22 अक्टूबर, सन् 1934)

गृहस्थ का नाम–कु. मैना

माता-पिता–श्रीमती मोहिनी देवी एवं श्री छोटेलाल जैन

आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत–ई. सन् 1952 में बाराबंकी में शरदपूर्णिमा के दिन आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज से।

क्षुल्लिका दीक्षा–चैत्र कृ. 1, ई. सन् 1953 को महावीरजी अतिशय क्षेत्र (राज.) में।

आर्यिका दीक्षा–वैशाख कृ. 2, ई. सन् 1956 को माधोराजपुरा (राज.) में चारित्रचक्रवर्ती 108 आचार्य श्री शांतिसागर जी की परम्परा के प्रथम पट्टाधीश आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज के करकमलों से।

साहित्यिक कृतित्व–अष्टसहस्री, समयसार, नियमसार, मूलाचार, कातंत्र-व्याकरण, षट्खण्डागम आदि ग्रंथों के अनुवाद/टीकाएं एवं 250 विशिष्ट ग्रंथों की लेखिका। सन् 1995 में अवध वि.वि. (फैजाबाद) द्वारा ''डी.लिट्.'' की मानद उपाधि से विभूषित।

तीर्थ निर्माण प्रेरणा–हस्तिनापुर में जंबूद्वीप तीर्थ का निर्माण, शाश्वत तीर्थ अयोध्या का विकास एवं जीर्णोद्धार, प्रयाग-इलाहाबाद (उ.प्र.) में तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ का निर्माण, तीर्थंकर जन्मभूमियों का विकास यथा–भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा-बिहार) में 'नंद्यावर्त महल' नामक तीर्थ निर्माण, भगवान पुष्पदंतनाथ की जन्मभूमि काकन्दी तीर्थ (निकट गोरखपुर-उ.प्र.) का विकास, भगवान पार्श्वनाथ केवलज्ञानभूमि अहिच्छत्र तीर्थ पर तीस चौबीसी मंदिर, हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप स्थल पर भगवान शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरहनाथ की 31 फुट उत्तुंग खड्गासन प्रतिमा निर्माण की प्रेरणा, मांगीतुंगी में निर्माणाधीन 108 फुट उत्तुंग भगवान ऋषभदेव की विशाल प्रतिमा इत्यादि।

महोत्सव प्रेरणा–पंचवर्षीय जम्बूद्वीप महामहोत्सव, भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव, अयोध्या में भगवान ऋषभदेव महाकुंभ मस्तकाभिषेक, कुण्डलपुर महोत्सव, भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव, दिल्ली में कल्पद्रुम महामण्डल विधान का ऐतिहासिक आयोजन इत्यादि। **विशेषरूप से 21 दिसम्बर 2008 को जम्बूद्वीप स्थल पर विश्वशांति अहिंसा सम्मेलन का आयोजन हुआ, जिसका उद्घाटन भारत की राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा देवीसिंह पाटील द्वारा किया गया।**

शैक्षणिक प्रेरणा–'जैन गणित और त्रिलोक विज्ञान' पर अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी, राष्ट्रीय कुलपति सम्मेलन, इतिहासकार सम्मेलन, न्यायाधीश सम्मेलन एवं अन्य अनेक राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर के सेमिनार आदि।

रथ प्रवर्तन प्रेरणा–जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति (1982 से 1985), समवसरण श्रीविहार (1998 से 2002), महावीर ज्योति (2003-2004) का भारत भ्रमण।

इस प्रकार नित्य नूतन भावनाओं की जननी पूज्य माताजी चिरकाल तक इस वसुधा को सुशोभित करती रहें, यही मंगल कामना है।

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान–संक्षिप्त परिचय

–पीठाधीश क्षुल्लक मोतीसागर

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान की स्थापना पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से सन् 1972 में राजधानी दिल्ली में हुई थी। संस्थान का मुख्य कार्यालय सन् 1974 में हस्तिनापुर में प्रारंभ हुआ। इस संस्थान के अन्तर्गत अनेक गतिविधियाँ हस्तिनापुर में तथा अन्यत्र चल रही हैं–

1. सन् 1972 से वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला के अन्तर्गत लाखों ग्रंथ प्रकाशित हो रहे हैं।
2. सन् 1974 से इस संस्थान के मुखपत्र के रूप में 'सम्यग्ज्ञान' हिन्दी मासिक पत्रिका का निरंतर प्रकाशन हो रहा है।
3. सन् 1974 से 1985 तक हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप रचना का निर्माण कार्य हुआ।
4. सन् 1974 से अब तक जम्बूद्वीप रचना के अतिरिक्त अनेक जिनमंदिरों का निर्माण हुआ है–कमल मंदिर, तीन मूर्ति मंदिर, ध्यान मंदिर, शांतिनाथ मंदिर, वासुपूज्य मंदिर, ॐ मंदिर, सहस्रकूट मंदिर, विद्यमान बीस तीर्थंकर मंदिर, आदिनाथ मंदिर, अष्टापद मंदिर, ऋषभदेव कीर्तिस्तंभ, स्वर्णिम तेरहद्वीप रचना एवं नवग्रहशांति जिनमंदिर।
5. जम्बूद्वीप पुस्तकालय जिसमें लगभग 15000 ग्रंथ संग्रहीत हैं।
6. णमोकार महामंत्र बैंक जिसमें भक्तों द्वारा लिखकर भेजे गये करोड़ों णमोकार मंत्र जमा किये जाते हैं।
7. समय-समय पर शिक्षण-प्रशिक्षण शिविरों तथा संगोष्ठियों के आयोजन कियेजाते हैं।
8. यात्रियों के शुद्ध भोजन के लिए राजा श्रेयांस भोजनालय का संचालन।
9. यात्रियों के ठहरने के लिए आधुनिक सुविधायुक्त डीलक्स फ्लैट्स वाली कई धर्मशालाओं तथा कोठियों एवं बंगलों का निर्माण किया गया है।
10. जम्बूद्वीप परिक्रमा के लिए नौका विहार, ऐरावत हाथी तथा मनोरंजन हेतु मिनी ट्रेन, झूले आदि हैं।
11. ज्ञानमती कला मंदिरम् में हस्तिनापुर के प्राचीन इतिहास से संबंधित झाँकियाँ हैं।
12. तीर्थंकर जन्मभूमियों की वंदना एवं धार्मिक फिल्मों का प्रदर्शन करने वाले थियेटर से समन्वित हीरक जयंती एक्सप्रेस।

दिल्ली, मेरठ, मुजफ्फरनगर, हरिद्वार, झाँसी, तिजारा आदि से जम्बूद्वीप स्थल तकआने के लिए दिन भर बसें मिलती रहती हैं।

दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान के अन्तर्गत भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा) बिहार में भव्य नंद्यावर्त महल तीर्थ तथा प्रयाग-इलाहाबाद (उ.प्र.) में निर्मित तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ का भी संचालन होता है।

जम्बूद्वीप एवं अन्य रचनाओं के दर्शन हेतु हस्तिनापुर पधारकर आध्यात्मिक एवं शारीरिक सुख की प्राप्ति करें।

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला के शिरोमणि संरक्षक

1. श्रीमती निर्मला जैन ध.प. स्व. श्री प्रेमचन्द्र जैन, तत्पुत्र प्रदीप कुमार जैन, खी बावली, दिल्ली-6।
2. श्रीमती सुमन जैन ध.प. श्री दिग्विजय सिंह जैन, इंदौर।
3. श्री महावीर प्रसाद जैन संघपति, जी-19, साऊथ एक्सटेन्शन, नई दिल्ली।
4. श्री महेन्द्र पाल हरेन्द्र कुमार जैन, सूरजमल विहार, दिल्ली।
5. श्रीमती मोहनी जैन ध.प. श्री सुनील जैन, प्रीत विहार, दिल्ली।
6. श्री देवेन्द्र कुमार जैन (धारूहेड़ा वाले) गुड़गाँव (हरि.)।
7. श्रीमती शारदा रानी जैन ध.प. स्व. रिखबचंद जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली-92।
8. डॉ. देवेन्द्र कुमार जैन, भोपाल (म.प्र.)
9. श्रीमती संगीता जैन ध.प. श्री संजीव कुमार जैन, शेरकोट (बिजनौर) उ.प्र.
10. श्री अनिल कुमार जैन, दरियागंज, दिल्ली
11. श्री बी.डी. मदनाइक, मुम्बई
12. श्री धनकुमार जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली-92।
13. श्री जितेन्द्र कुमार जैन एवं श्रीमती सुनीता जैन कोटड़िया, फ्लोरिडा, यू.एस.ए.
14. श्रीमती विमला देवी जैन ध.प. श्री ओमप्रकाश जैन, स्वालिक नगर, हरिद्वार (उत्तराखंड)।
15. श्री अमित जैन एवं संभव जैन सुपुत्र श्रीमती अनीता जैन ध.प. श्री मूलचंद जैन पाटनी, दिसपुर (कामरूप) आसाम।
16. श्रीमती अजित कुमारी जैन ध.प. श्री महेन्द्र कुमार जैन, ओबेदुल्लागंज (रायसेन) म.प्र.।

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला के परम संरक्षक

1. श्री माँगीलाल बाबूलाल पहाड़े, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)।
2. डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन, 792 विवेकानंदपुरी, सिविल लाइन, सीतापुर (उ.प्र.)।
3. श्री सुमत प्रकाश जैन, गज्जू कटरा, शाहदरा, दिल्ली।
4. श्री सुनील कुमार जैन, द्वारा-सुनील टैक्सटाईल्स, सरधना (मेरठ) उ.प्र.।
5. श्री प्रकाश चंद अमोलक चंद जैन सर्राफ, सनावद (म.प्र.)।
6. श्री प्रद्युम्न कुमार जवेरी, रोकड़ियालेन, बोरीवली (वेस्ट) मुंबई।
7. श्रीमती उर्मिला देवी ध.प. श्री कान्ती प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।
8. श्रीमती उषा जैन ध.प. श्री विमल प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।
9. श्री आनन्द प्रकाश जैन (सौरम वाले) , गांधीनगर, दिल्ली।
10. श्रीमती सरिता जैन ध.प. श्री राजकुमार जैन, किदवई नगर, कानपुर।
11. स्व. श्रीमती कैलाशवती ध.प. श्री कैलाश चन्द्र जैन , तोपखाना बाजार, मेरठ।
12. श्री भानेन्द्र कुमार जैन, द्वारा-श्री विद्या जैन, भगत सिंह मार्ग, जयपुर।
13. श्री प्रदीप कुमार शान्तिलाल बिलाला, अनूपनगर, इंदौर, (म.प्र.)।
14. श्री सुरेशचंद पवन कुमार जैन, बाराबंकी (उ.प्र.)।
15. श्री नथमल पारसमल जैन, कलकत्ता-7।
16. श्रीमती स्व. शांताबाई ध.प. श्री कमलचंद जैन, सनावद (म.प्र.)।
17. श्री रूपचंद जैन कटारिया, दिल्ली
18. श्री आशु जैन, कालका जी, नई दिल्ली

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ सं.
1. देवदर्शन का माहात्म्य।	1
2. णमोकार मन्त्र का प्रभाव।	5
3. चक्रवर्ती का वैराग्य।	8
4. धर्मादा द्रव्य हड़पने का दुष्परिणाम।	11
5. क्या रावण राक्षस और दशमुख वाला था?	14
6. अकाल में अध्ययन का कुफल।	17
7. बन्दर की लीला।	19
8. क्या जैन निरीश्वरवादी हैं?	23
9. मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।	26
10. महाबली भीम।	30
11. श्रावक वारिषेण।	33
12. अशुभ भावों का फल स्वयं अशुभ है।	36
13. क्या तिर्यंच आयु शुभ है?	41
14. मिथ्या तप का दुष्परिणाम।	44

देवदर्शन का माहात्म्य

सुधेश–पिताजी! आज मैंने पद्मपुराण में ऐसा पढ़ा है कि–"जो मनुष्य जिनप्रतिमा के दर्शन का चिंतवन करता है वह बेला का, जो गमन का अभिलाषी होता है वह तेला का, जो जाने का आरम्भ करता है वह चार उपवास का, जो जाने लगता है वह पाँच उपवास का, जो कुछ दूर पहुँच जाता है वह बारह उपवास का, जो बीच में पहुँच जाता है वह पन्द्रह उपवास का, जो मन्दिर के दर्शन करता है वह मासोपवास का, जो मन्दिर के प्रवेश करता है वह छह मास के उपवास का जो द्वार में प्रावेश करता है, वह एक वर्ष के उपवास का, जो प्रदक्षिणा देता है वह सौ वर्ष के उपवास का, जो जिनेन्द्रदेव के मुख का दर्शन करता है वह हजार वर्ष के उपवास का और जो स्वभाव से स्तुति करता है वह अनन्त उपवास का फल प्राप्त करता है। यथार्थ में जिनेन्द्रदेव की भक्ति से कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं और जिसके कर्म क्षीण हो जाते हैं, वह अनुपम सुख से सम्पन्न परमपद को प्राप्त कर लेता है।"[1]

1. फलं ध्यानाच्चतुर्थस्य षष्ठस्योद्यममात्रतः।
अष्टमस्य तदारम्भे गमने दशमस्य तु।।178।।
द्वादशस्य ततः किंचिन्मध्ये पक्षोपवासजम्।
फलं मासोपवासस्य लभते चैत्यदर्शनात्।।179।।
चैत्यांगणं समासाद्य याति षाण्मासिकं फलम्।
फलं वर्षोपवासस्य प्रविश्य द्वारमश्नुते।।180।।
फलं प्रदक्षिणीकृत्य भुंक्ते वर्षशतस्य तु।
दृष्ट्वा जिनास्यमाप्नोति फलं वर्षसहस्रजम्।।181।।
अनन्तफलमाप्नोति स्तुतिं कुर्वन् स्वभावतः।
नहि भक्तेर्जिनेन्द्राणां विद्यते परमुत्तमम्।।182।।
कर्म भक्त्या जिनेन्द्राणां क्षयं भरत! गच्छति।
क्षीणकर्मा पदं याति यस्मिन्ननुपमं सुखं।।183।। –पद्मपुराण, पर्व 32

पिताजी–हाँ बेटा! यह ठीक ही है, इसीलिये तो हम लोग देव दर्शन पर बहुत जोर देते हैं।

सुधेश–किन्तु पिताजी! यह तो आचार्यों ने बहुत ही बड़ा प्रलोभन दे दिया है। कहीं ऐसा भी सम्भव है? जैनधर्म तो भावों की प्रधानता रखता है।

पिताजी–सुधेश! सर्वथा भावों का ही एकान्त नहीं है। धवला की छठी पुस्तक में आचार्य देव ने सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारण बतलाये हैं उनमें जिनबिम्ब का दर्शन यह भी एक कारण माना गया है। वहाँ पर प्रश्न हुआ है कि जिनबिम्ब के दर्शन से प्रथमोपशम सम्यक्त्व कैसे हो सकता है? तब आचार्य ने उत्तर दिया है कि जिनबिम्ब के दर्शन से निधत्त-निकाचित आदि मिथ्यात्व कर्मों का क्षय हो जाता है।[1] और इसीलिए तो धवला में नैसर्गिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिए भी गुरूपदेश को छोड़कर शेष दो कारण जातिस्मरण और जिनबिम्ब दर्शन अवश्य ही माने हैं। अर्थात् उनका कहना है कि इनमें से एक कारण मिले बिना निसर्गज सम्यग्दर्शन भी उत्पन्न हो सकना असम्भव है– नहीं हो सकता है। अतः जिनबिम्बदर्शन का बहुत ही महत्त्व है। अतः उपर्युक्त कथन प्रलोभन नहीं है, प्रत्युत् वास्तविक ही है। यदि भावों की ही महत्ता होती तो आचार्य यह भी कह सकते थे कि भावपूर्वक दर्शन करने से यह फल मिलेगा अन्यथा नहीं। उनके पास शब्दों की तो कमी नहीं थी और यदि घर बैठे मूर्ति के चिंतवन से फल मिल सकता था तो आचार्य यह कह सकते थे कि "जिणबिंब चिंतणेण"। पुनः "जिणबिंबदंसणेण" पाठ क्यों रखा? अतएव यह स्पष्टतया समझना चाहिये कि जिनबिम्ब दर्शन का जो महत्त्व है, वह एकाग्र में बैठकर चिन्तन का या भावों का नहीं है।

सुधेश–पिताजी! हमने कई बार पण्डितों के मुख से एक कथा सुनी है और कहीं-कहीं पत्रिकाओं में पढ़ी भी है कि दो मित्र थे। एक मन्दिर में जाने लगा तो दूसरा बोला कि मैं आज वेश्या के यहाँ जाऊँगा। जो मन्दिर में गया था वह सोचने लगा कि अहा! मेरा मित्र वेश्या के यहाँ सुख का अनुभव कर

1. कधं जिनबिम्बदंसणं पठमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं! जिणबिम्बदंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादि कम्मकलावस्स खयदंसणादो। धवला पुस्तक 6, पृ. 427।
"दर्शनेन जिनेन्द्राणां पापसंघातकुंजरम्। शतधा भेदमायाति गिरिर्वज्रहतो यथा।"

रहा होगा और मैं यहाँ फँस गया? वह ऊपर से दर्शन, भजन और आरती कर रहा था किन्तु उसका मन तो वेश्या के यहाँ लग रहा था अतः वह पाप का बन्ध कर रहा था किन्तु इससे विपरीत जो वेश्या के यहाँ था, वह सोच रहा था कि अहो! मेरा मित्र ही पुण्यशाली है कि जो कि मन्दिर में भक्ति-भजन करके पुण्य लाभ ले रहा है और एक मैं पापी हूँ, जो यहाँ पर वेश्या के मोह में फँसकर धर्म और धन को खो रहा हूँ अतः इस भावना से वह वेश्या के यहाँ दुश्चरित्र करते हुए भी पुण्य का बँध कर रहा है। इसलिये भावों की महिमा है, यदि भाव शुद्ध नहीं हैं तो देव-दर्शन भला क्या फल देगा?

पिताजी—सुधेश! यह कथा कोई शास्त्र-सम्मत नहीं है और न प्रामाणिक ही है। यह तो किसी व्यसनी ने ही मनगढ़न्त बना ली है, ऐसा प्रतीत होता है। जो मनचले लोग होते हैं, वे ही ऐसी दन्त कथाओं से लोगों को धर्म से वंचित करके वेश्या-सेवन आदि पापों की पुष्टि करते रहते हैं और भावों का ढोल पीटते रहते हैं। भला वेश्या-सेवन करते हुए पुण्य बन्ध हो जावे और मन्दिर में स्तुति-आरती करते हुए पाप बन्ध हो जावे क्या यह सम्भव है? कथमपि सम्भव नहीं प्रत्युत् असम्भव ही है। हाँ, इतना अवश्य है कि वेश्या-सेवन करने वाला व्यक्ति यदि वहाँ पर अपने को पापी समझकर पापों का पश्चाताप कर रहा है तो उसके पाप का बन्ध कुछ हल्का अवश्य हो सकता है किन्तु बँधेगा तो पाप ही। वैसे ही जिनेन्द्र देव के दर्शन-स्तवन व आरती के समय तो किसी के परिणाम वेश्या-सेवन के होंगे भी नहीं, और यदि कदाचित् पाप-वासना मन में आ भी गई तो उसके भी पुण्य के बन्ध में कुछ हल्कापन आ सकता है, न कि पाप का बन्ध होगा। अरे! जब अर्धनिमिष मात्र भी किया गया जिनेन्द्रदेव के गुणों का स्मरण अनन्त-अनन्त संसार में संचित पाप-समूह को अग्नि की कणिका के समान भस्मसात् करने में समर्थ है, तो भला दर्शन करने वाले व्यक्ति का क्या एक क्षण के लिए भी जिन स्तवन में उपयोग नहीं लगेगा? अवश्य ही लगेगा। जिनबिम्ब दर्शन के लिए भावों की प्रधानता कहना व्यर्थ है, अपने आप की वंचनामात्र है।

अहो! जो जिनबिम्ब दर्शन अनादिकालीन मिथ्यात्व को नष्ट कर सम्यक्त्व को प्रगट कराने में समर्थ है, उसकी महिमा अचिन्त्य ही है।

सुधेश—पिताजी! यदि हम घर में महावीर भगवान की फोटो का कलेण्डर

रखकर उसका दर्शन कर लेते हैं, तो क्या बाधा है? वह भी तो जिनबिम्ब दर्शन ही है।

पिताजी—नहीं, सुधेश! कलेण्डर में भगवान का जो फोटो है वह जिनबिम्ब का चित्र है। उसकी प्राण-प्रतिष्ठा और पंचकल्याणक नहीं हो सकती है अतः वह चित्र कथमपि जिनबिम्ब नहीं हो सकता है। जिनबिम्ब तो वह हैं जो धातु-पाषाण आदि से निर्मित जिनप्रतिमाएँ हैं और जिनकी प्रतिष्ठाचार्य ने विधिवत् पंचकल्याणक प्रतिष्ठा विधि, मन्त्र-न्यास, प्राण-प्रतिष्ठा आदि करके जिन्हें पूजा योग्य बना दिया है। प्रतिष्ठा से पहले भी वे मूर्तियाँ पूज्य नहीं हैं अन्यथा जयपुर, मकराना आदि स्थानों पर ही लोग तीर्थ मानकर जाने लगते और उन गढ़ी हुई मूर्तियों की पूजा करने लगते किन्तु ऐसा नहीं होता है। जब वे मूर्तियाँ प्रतिष्ठा विधि से प्रतिष्ठित होकर मन्दिर में विराजमान की जाती हैं तभी वे पूजा के योग्य मानी जाती हैं।

अतः देवदर्शन का नियम तो मन्दिर में जाकर जिनप्रतिमा के दर्शन को करने से ही होता है। देखो! भरत चक्रवर्ती, महाराजा रामचन्द्र आदि ने भी अनेक जिनमन्दिर बनवाये हैं और अनेक प्रतिमाएँ विराजमान कराकर उनकी पूजा-भक्ति की है और तो क्या चारण ऋद्धिधारी महामुनि भी कृत्रिम-अकृत्रिम जिन मन्दिरों की, पावापुरी, सम्मेदाचल आदि तीर्थों की वन्दना किया करते हैं। ऐसा इतिहासकारों ने पुराणों में वर्णित किया है। इसलिये सर्वविकल्प छोड़कर भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र देव का दर्शन किया करो, भले ही पाँच मिनट के लिए ही मन्दिर जाओ, किन्तु अवश्य ही जाया करो।

सुधेश—अच्छा पिताजी! आज से मैं जिनमन्दिर रोज जाऊँगा, अनन्तर ही भोजन करूँगा, ऐसा नियम करता हूँ।

णमोकार मन्त्र का प्रभाव

सुरेन्द्र–भइया योगेन्द्र! आज मैंने मुनि महाराज के उपदेशों में सुना कि बन्दर भी णमोकार मन्त्र के प्रभाव से संसार समुद्र से तिर गया है तो मनुष्यों की तो बात ही क्या? सो भइया बन्दर की क्या कहानी है, मुझे सुना दो।

योगेन्द्र–हाँ, हाँ, सुनो मैं तुम्हें सुनाता हूँ। किसी समय गंधमादन नामक पर्वत पर एक सुप्रतिष्ठ नाम के मुनिराज प्रतिमायोग से विराजमान थे। उस समय सुदर्शन नाम के एक देव ने क्रोधवश उनके ऊपर घोर उपसर्ग किया। मुनिराज परमशान्त भाव से उपसर्ग को सहन कर ध्यान में लीन हो गये अतः घातिया कर्मों का नाश कर वे केवली हो गये। उस समय देवों ने आकर उनकी पूजा की। पुनः राजा ने भगवान केवली के निकट प्रश्न किया कि–"हे प्रभो! इस देव ने आपके ऊपर उपसर्ग क्यों किया?"

भगवान की दिव्यध्वनि खिरी–"राजन्! सम्मेदशिखर पर्वत पर दो बन्दर थे। किसी समय दोनों अत्यधिक प्यास से व्याकुल हो रहे थे। उसी समय उन्होंने देखा कि एक पत्थर से पानी निकल रहा है। पानी थोड़ा था। दोनों ही उस पानी को पीने के लिए आपस में लड़ने लगे। जन्मान्तर के द्वेष के कारण लड़ते-लड़ते मरणासन्न हो गये। उनमें से एक तो तत्काल ही मर गया और दूसरा बन्दर मरणासन्न हो वहीं पड़ा रहा। उसी समय वहाँ आकाशमार्ग से सुरगुरू और देवगुरू नामक दो चारणऋद्धि मुनिराज आ पहुँचे। उन्होंने उस बन्दर को पंच नमस्कार मन्त्र सुनाया। बन्दर ने भी बड़ी ही उत्सुकता से उस मन्त्र को सुना और सुनते-सुनते ही प्राण छोड़कर सौधर्म स्वर्ग में चित्रांगद नाम का देव हो गया। वहाँ से च्युत होकर वह देव का जीव इसी भरतक्षेत्र के पोदनपुर नगर के स्वामी राजा सुस्थित की सुलक्षणा नाम की रानी का पुत्र हो गया। उसका नाम सुप्रतिष्ठ रखा गया।[1]

किसी समय वर्षा ऋतु में सुप्रतिष्ठ कुमार ने असित नाम के पर्वत पर दो वानरों का युद्ध देखा जिससे उसे पूर्वजन्म की समस्त चेष्टाओं का स्मरण हो आया। उसी समय संसार से विरक्त होकर उसने सुधर्माचार्य मुनिराज के पास जाकर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। वही सुप्रतिष्ठ मुनि मैं यहाँ ध्यान कर रहा था।

1. उत्तरपुराण पर्व 70, टीका पृष्ठ 347

वह मेरा साथी बन्दर का जीव संसार में भ्रमण करते हुए एक समय सिंधु नदी के किनारे रहने वाले मृगायण नामक तपस्वी की विशाली नामक पत्नी से गौतम नाम का पुत्र हुआ। मिथ्यादर्शन के प्रभाव से वह पंचाग्नि तप करके 'सुदर्शन' नामक ज्योतिषी देव हो गया। पूर्वभव के वैर के कारण ही इसने यहाँ मुझ पर उपसर्ग किया है।

सुरेन्द्र–भइया योगेन्द्र! इस णमोकार मन्त्र के प्रभाव से वह बन्दर चित्रांगद देव होकर पुनः मनुष्य होकर उसी भव से मोक्ष चला गया। इससे तो यह महामन्त्र महान महिमाशाली है। इसका तो सदैव जाप्य करते ही रहना चाहिये। अच्छा, अब यह तो बताओ कि उन दोनों बन्दरों का पूर्वजन्म से कोई वैर चला आ रहा था क्या?

योगेन्द्र–हाँ, भाई सुरेन्द्र! इन दोनों बन्दरों का पूर्व में कई भवों से वैर चला आ रहा था। सुनो–

इसी भरतक्षेत्र में कलिंग देश के काँचीपुर नगर में सूरदत्त और सुदत्त नाम के दो वैश्य पुत्र रहते थे। एक समय उन दोनों ने लंका आदि द्वीपों में जाकर इच्छानुसार बहुत-सा धन कमाया। पुनः जब वापस आकर नगर में प्रवेश करने लगे तब सोचा कि इस धन पर राजा को कर (टैक्स) देना पड़ेगा, अतः इस धन को यहीं पर नगर के बाहर ही कहीं रख दिया जाय। इस प्रकार से दोनों ने आपस में निर्णय करके धन को एक झाड़ी के नीचे गाड़कर पहचान के लिये ऊपर कुछ चिह्न करके नगर में चले गये।

दूसरे दिन एक मनुष्य मदिरा बनाने के लिये उसके योग्य वृक्षों की जड़ें खोदता हुआ वहाँ पहुँचा और खोदते-खोदते उसे वह बहुत बड़ा धन का खजाना मिल गया। वह खुशी से फूल गया और सभी जड़-वनस्पतियों को छोड़ वह निधि लेकर घर आ गया। उसकी दरिद्रता समाप्त हो गई और वह मालामाल हो गया। तीसरे दिन वे दोनों भाई अपने धन को लेने के लिये वहाँ आये। वहाँ धन न पाकर वे एक-दूसरे पर धन निकाल लेने का आरोप लगाने लगे। सूरदत्त ने यह निश्चय कर लिया कि यह मेरे छोटे भाई सुदत्त की ही करतूत है और सुदत्त ने यह दृढ़ विश्वास कर लिया कि यह सब छल मेरे बड़े भाई का ही है। दोनों ही परस्पर में लड़ने लगे और एक-दूसरे पर प्रहार करते हुए मर गये। अतीव क्रोध और लोभ के कारण वे दोनों ही मरकर प्रथम नरक में नारकी हो गये।

वहाँ पर भी परस्पर में लड़ते हुए चिरकाल तक दुःख भोगते रहे। अन्त में वहाँ से निकलकर विन्ध्याचल की गुफा में मेढ़ा हो गये। वहाँ पर भी परस्पर में लड़कर मरे और गंगा नदी के किनारे बसे हुए गोकुल में बैल हो गये। वहाँ पर भी जन्मान्तर के द्वेष के कारण दोनों ही बैल परस्पर में युद्ध करके मर गये और सम्मेद शिखर पर्वत पर बन्दर हो गये।

बन्दर की पर्याय में मरणासन्न स्थिति में एक बन्दर को गुरूदेव के द्वारा महामन्त्र के मिल जाने से उसका उद्धार हो गया।

सुरेन्द्र—भइया योगेन्द्र! देखो तो सही, सगे भाई-भाई होकर भी धन के लोभ में आकर और गलत अनुमान से एक-दूसरे को चोर समझकर उन दोनों ने अकारण ही बैर बाँध लिया। पुनः उसके फलस्वरूप दुर्गति में दुःख उठाते रहे।

योगेन्द्र—हाँ भाई! इसीलिए तो आचार्यों ने वैरभाव का त्याग करने का उपदेश दिया है। इस कथा को सुनकर हम सभी को यह नियम करना चाहिये कि हम कभी भी किसी के साथ बैर नहीं रखेंगे। न ही बिना देखे किसी पर किसी दोष का आरोप करेंगे तथा हमेशा महामन्त्र का जाप्य करते रहेंगे।

विश्वशांति मंत्र

ॐ ह्रीं विश्वशांतिकराय
श्री शांतिनाथाय नमः।

स्वास्थ्य मंत्र

ॐ ह्रीं अर्हं णमो सव्वोसहिपत्ताणं आरोग्य
लाभं कुरु कुरु स्वाहा।

चक्रवर्ती का वैराग्य

अरुण कुमार—गुरूजी! यदि कोई अपनी जिम्मेदारी को न संभालकर दीक्षा ले लेता है तो उसे बहुत ही पाप लगेगा।

गुरूजी—नहीं अरुण, ऐसी बात नहीं है। क्या जब यमराज आता है तब कोई अपनी जिम्मेदारी ही संभालते रहते हैं?

अरुण कुमार—मृत्यु के सामने तो सभी की लाचारी है।

गुरूजी—ऐसा सोचकर ही तो लोग विरक्त होकर दीक्षा लेते हैं। वैराग्य का कोई समय निश्चित नहीं है। संसार के प्रपंच में कुछ-न-कुछ कर्त्तव्य तो बने ही रहते हैं लेकिन विरक्तमना जीव उनको नगण्य समझते हैं क्योंकि काल का कोई भरोसा नहीं है और मनुष्य पर्याय अत्यन्त ही दुर्लभ है।

किसी समय की घटना है कि चक्रवर्ती वज्रदन्त अपने सिंहासन पर आरूढ़ थे। इतने में वनपाल ने एक सुगन्धित कमल लाकर उन्हें अर्पित किया। राजा ने बड़ी प्रसन्नता से उसे सूँघा। उस कमल के भीतर एक गंधलोलुप भ्रमर मरा हुआ पड़ा था। राजा उस भ्रमर को देखते ही संसार के भोगों से विरक्त हो गये। चक्रवर्ती का इतना विशाल वैभव वैराग्यरूपी संपत्ति में उन्हें पुराने तृण के समान तुच्छ भासने लगा। उस समय चक्रवर्ती अपने राज्य का भार पुत्र अमिततेज को देना चाहते थे। तब वह बोलता है—पिताजी! जब आप ही इस वैभव को छोड़ना चाहते हैं तब हमें भी यह क्यों कर चाहिये? इसे आप अस्थिर समझकर ही स्थिर सुख की आकांक्षा से छोड़ रहे हैं अतः हमें भी इस तुच्छ राज्य के अतिरिक्त अलौकिक आत्मिक साम्राज्य ही चाहिये।

जब राजा ने सभी पुत्रों का यह निश्चय देखा तब वे अमिततेज के पुत्र पुण्डरीक को, जो कि अभी बालक ही था, उसी को राज्यतिलक करके दीक्षा के लिए वन में चले गये। वहाँ यशोधर तीर्थंकर के शिष्य गुणधर मुनिराज के समीप वे दीक्षित हो गये। उस समय उनके साथ साठ हजार रानियों ने आर्यिका दीक्षा ले ली तथा बीस हजार राजाओं और एक हजार पुत्रों ने मुनि दीक्षा ले ली।

तब रानी लक्ष्मीमती पति और पुत्र के वियोग से शोक को प्राप्त हुई सोचने लगीं कि इतना छोटा बालक पुण्डरीक इतने विशाल राज्य को कैसे संभालेगा? पुनः रानी ने सोच-विचार कर अपने जमाई (पुत्री श्रीमती के पति) राजा

वज्रजंघ के पास सारा समाचार भेजा और कहलाया कि आप आकर इस राज्य की व्यवस्था सुचारू करें। इस समाचार को विदित कर राजा वज्रजंघ रानी श्रीमती के साथ वहाँ पहुँचे और व्यवस्था संभाली। आश्रित राजाओं को पूर्ववत् अपने-अपने कार्यों में नियुक्त करके वे महाराज पुण्डरीक बालक को राज्य सिंहासन पर आरूढ़ कर कुशल मन्त्रियों के हाथ में राज्य-भार सौंपकर वापस आ गये।

मार्ग में जाते समय राजा वज्रजंघ ने अपने ही युगल पुत्रों को, मुनिवेश में चारणऋद्धिधारी महामुनियों को आहारदान देकर असीम पुण्य संचित किया था अर्थात् वज्रजंघनृपति के पिता वज्रबाहु जब दीक्षित हुए थे तब उनके साथ वज्रजंघ के 98 पुत्र सभी के सभी दीक्षित हो गये थे। उसमें से अंतिम दो पुत्र चारणमुनि के रूप में उनके पड़ाव में आये थे और राजा ने आहारदान देकर पंचाश्चर्य को प्राप्त किया था।

कहने का मतलब यही है कि जब इस जीव को संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य हो जाता है तब यह जीव सभी कुटुम्बियों से पूर्णतया निर्मम हो जाता है। यहाँ तक कि वह अपने शरीर से भी निर्मम हो जाता है तभी तो वह केशलोंच आदि कष्टों को प्रसन्नमना, दुःखरूप न समझते हुए सहन कर लेता है।

अरुण—क्या घर में रहकर निर्मम नहीं हुआ जा सकता है?

गुरूजी—यदि घर में रहकर भी निर्ममता हो जाती और मुक्ति मिल जाती तो तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र आदि महापुरुष क्यों घर छोड़ते और नग्न होकर क्यों वन में विचरते?

अरुण—आजकल पंचमकाल में तो निर्दोष मुनि होते ही नहीं हैं? पुनः घर में मोक्ष की साधना अच्छी है।

गुरूजी—ऐसी बात एकान्त से नहीं है क्योंकि श्री कुन्दकुन्द देव, श्री अमृतचन्द्र सूरि, श्री पूज्यपाद, श्री भट्टाकलंकदेव, श्री समन्तभद्र आदि मुनि भी इसी पंचमकाल में ही हुए हैं। उन्हें हम और आप निर्दोष मानते हैं। पुनः उनकी वाणी के अनुसार पंचमकाल के अंत तक निर्दोष मुनियों का अस्तित्व मानना ही होगा। मोक्षपाहुड़ ग्रन्थ में श्री कुन्दकुन्द देव कहते हैं—

भरहे दुस्समकाले, धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे, णहु मण्णइ सो हु अण्णाणी।।1।।

इस भरतक्षेत्र में दुःषमकाल में साधुओं को आत्मस्वभाव में स्थित होने पर धर्मध्यान होता है किन्तु जो ऐसा नहीं मानते हैं, वे अज्ञानी हैं।

अज्जवि तियरणसुद्धा, अप्पा झाएहि लहइ इंदत्तं।
लोयंत्तियदेवत्तं, तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति।।2।।

आज भी रत्नत्रय से शुद्ध साधु आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपद प्राप्त कर लेते हैं अथवा लौकांतिक देव हो जाते हैं और वहाँ से च्युत होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

वर्तमान में आचार्य शान्तिसागर जी आदि की परम्परा में जो साधु हुए हैं वे सभी आगम की परम्परा के अनुयायी हैं, वे अपनी चर्या में सावधान हैं। इनको द्रव्यलिंगी या मिथ्यादृष्टि या हीनचारित्री कहना भी तो अतिसाहस है। जो ऐसा कहते हैं उन्हें एक बार मुनि बनकर निर्दोष चर्या विधि बता देनी चाहिये पुनः सारे साधु उनका अनुकरण कर लेंगे।

देखो अरुण! तुम भगवती आराधना का स्वाध्याय करो तथा प्रवचनसार में देखो, मुनियों को शिष्यों के संग्रह, अनुग्रह और पोषण का उपदेश दिया है, संघ की व्यवस्था बताई है। इसलिये आज भी मुनि हैं और आगे भी पंचम काल के अन्त तक रहेंगे। हाँ! जिस दिन मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका चतुर्विध संघ सल्लेखना ग्रहण कर लेंगे और तभी धर्म का, राजा और अग्नि का भी अभाव हो जायेगा। तिलोयपण्णत्ति और त्रिलोकसार ग्रन्थों का स्वाध्याय करो, तब तुम्हें सारी बातें मालूम पड़ेंगी।

अरुण—अच्छा गुरूजी! मैं अपने सम्यक्त्व को निर्मल बनाने के लिये चारों अनुयोगों के ग्रन्थों का स्वाध्याय करूँगा।

सरस्वती मंत्र

ॐ ह्रीं श्रीं वद वद वाग्वादिनि भगवति सरस्वति ह्रीं नमः।

धर्मादा द्रव्य हड़पने का दुष्परिणाम

सुरेश–भइया नरेश! जो मनुष्य लोभ में आकर धर्मादा द्रव्य को हड़प लेते हैं उनको महापाप लगता होगा?

नरेश–हाँ भाई, बहुत बड़ा पाप लगता है। देखो तो सही, यदि कोई मनुष्य यूँ ही किसी का धन हड़प लेता है, तो वह महापापी कहलाता है फिर जो दान-पूजन आदि के द्रव्य को अपने ऐशो-आराम में उपयोग करता है, उसके पाप का तो कहना ही क्या? इस पर एक पौराणिक कथा है। उसे मैं तुम्हें सुनाता हूँ, ध्यान से सुनो–

अयोध्या नगरी में कुबेर के समान वैभवशाली एक सुरेन्द्रदत्त नाम का सेठ रहता था। वह प्रतिदिन दश सुवर्ण दीनारों से जिनेन्द्र देव की पूजा करता था। वह अष्टमी को सोलह दीनारों से, अमावस्या को चालीस दीनारों से और चतुर्दशी को अस्सी दीनारों से विधिवत् अर्हंत देव की पूजा किया करता था। वह सेठ नित्य ही पात्रों को दान देता था, शील और उपवास का भी यथाशक्ति पालन किया करता था। इन्हीं सब कारणों से लोग उसको 'धर्मशील' इस उपाधि से सम्बोधित किया करते थे।

किसी एक दिन सेठ ने जलमार्ग से अन्यत्र द्वीप में जाकर धन कमाने की इच्छा की और बारह वर्ष बाद वापस लौटने का निर्णय किया। इसलिये बारह वर्ष तक भगवान की पूजा करने के लिये जितना धन आवश्यक था, उतना धन उसने अपने मित्र रुद्रदत्त ब्राह्मण के हाथ में सौंप दिया और कहा कि–"मित्र! मेरे सदृश ही तुम हमेशा जिनेन्द्र देव की पूजा, दान आदि कार्य करते रहना।"

सेठ के चले जाने पर रुद्रदत्त ब्राह्मण ने वह समस्त धन परस्त्री सेवन तथा जुआ आदि व्यसनों में समाप्त कर दिया पुनः वह चोरी करने लगा। कोतवाल ने उसे चोरी करते हुए पकड़कर कई बार डाँटकर छोड़ दिया। अन्त में उसने एक दिन मृत्युदण्ड की धमकी दी। तब वह पापी रुद्रदत्त वहाँ से निकलकर उल्कामुखी पर रहने वाले भीलों के झुण्ड में जा मिला। उनके साथ रहते हुए एक बार चोरी के प्रसंग में कोतवाल के द्वारा मारा गया और पाप के फलस्वरूप नरक में चला गया। वहाँ से निकलकर महामच्छ हुआ फिर नरक गया। वहाँ से आकर दृष्टिविष नाम का सर्प हुआ, पुनः नरक गया। वहाँ से

आकर शार्दूल हुआ फिर नरक गया। वहाँ से आकर सर्प हुआ फिर नरक गया और वहाँ से आकर भील हुआ। इस प्रकार समस्त नरकों के दुःखों को भोगकर पुनः त्रस-स्थावर योनियों में चिरकाल तक भ्रमण करता रहा।

अनंतर कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में गौतम गोत्रीय कपिष्ठल नामक ब्राह्मण की अनुंधरी पत्नी से गौतम नाम का पुत्र हुआ। उत्पन्न होते ही उसका समस्त कुल नष्ट हो गया। उसे खाने के लिये अन्न तक नहीं मिलता था। पेट सूखकर अन्दर धँस गया था, हड्डियाँ निकल आई थीं, नसों में लिपटा हुआ उसका शरीर बहुत ही जीर्ण मालूम पड़ता था। उसके बाल जुओं से भरे हुए थे। वह जहाँ कहीं जाता था, वहीं लोग फटकार लगाते थे। वह सदा अपने हाथ में खप्पर लिए भिक्षा की याचना किया करता था। हमेशा ही 'देओ, देओ' ऐसे शब्दों से गिड़गिड़ाया करता था परन्तु वह इतना अभागा था कि भिक्षा से कभी भी उसका पेट नहीं भरता था। वह मुनियों के समान ही शीत, उष्ण, आतप, वायु आदि की बाधाओं को सहन करता रहता था। सदैव मलिन रहता था और केवल जिह्वा इन्द्रिय के विषय की ही इच्छा रखता था, चूँकि अन्य सब इन्द्रियों के विषय उसके छूट चुके थे।

'सातवें नरक के नारकियों का रूप ऐसा होता है' यहाँ के लोगों को यह बतलाने के लिये ही मानों विधाता ने उसकी सृष्टि की थी। वह अत्यन्त घृणित था, पापी था। यदि उसे कहीं पर कण्ठपर्यंत भोजन मिल भी जाता था तो भी वह नेत्रों से अतृप्त जैसा ही मालूम होता था। वह जीर्ण-शीर्ण तथा छिद्र वाले अशुभ वस्त्र अपनी कमर से लपेटे रहता था। उसके शरीर पर बहुत से घाव हो गये थे और उनसे महादुर्गंध निकल रही थी अतः उन पर बहुत सी मक्खियाँ भिनभिनाती रहती थीं, जिन्हें वह हटाता रहता था किन्तु वे कभी नहीं हटती थीं अतः वह क्रोध से झुँझलाया करता था।

किसी एक समय श्री समुद्रसेन मुनिराज शहर में आहारार्थ भ्रमण कर रहे थे। उन्हें देखकर कौतुक से यह बालक उनके पीछे लग गया। वैश्रवण सेठ के यहाँ मुनिराज का आहार हुआ। आहार के बाद सेठ ने उस गौतम ब्राह्मण को भी कण्ठपर्यंत पूर्ण भोजन करा दिया। भोजन करने के बाद कालादि लब्धि के निमित्त से वह गौतम मुनिराज के आश्रम में पहुँचा और बोला कि–"हे प्रभो! आप मुझे भी अपने जैसा बना लीजिये।" मुनिराज ने उसके वचन सुनकर

पहले तो निश्चय किया कि वास्तव में यह भव्य है। फिर उसे कुछ दिन अपने पास रखकर उसके हृदय की परख की। तदनन्तर उन मुनिराज ने उसे शान्ति का साधनभूत संयम ग्रहण करा दिया।

गुरू के प्रसाद से संयम को प्राप्त कर वह विधिवत् मुनिचर्या का पालन करने लगा। एक वर्ष के व्यतीत होते ही उसे बुद्धि आदि अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ प्रकट हो गईं। अब वह गौतम नाम के साथ-साथ ही गुरू के स्थान को प्राप्त हो गया अर्थात् उनके समान बन गया। आयु के अन्त में उसके गुरू मध्यम ग्रैवेयक के सुविशाल नाम के उपरितन विमान में अहमिन्द्र हुए और श्री गौतम मुनिराज भी आयु के अन्त में विधिपूर्वक आराधनाओं की आराधना करते हुए समाधिमरण करके उसी मध्यम ग्रैवेयक के सुविशाल विमान में अहमिन्द्र पद को प्राप्त हुए। उस ब्राह्मण के जीव अहमिन्द्र ने वहाँ पर अट्ठाईस सागर की आयु पूर्ण कर वहाँ से च्युत होकर तुम यहाँ अन्धकवृष्टि नाम के राजा हुए हो। ऐसा श्री सुप्रतिष्ठ केवली ने अन्धकवृष्टि महाराज से उनके भवान्तर सुनाये थे।

सुरेश—भाई! इस कथा को सुनकर तो मुझे रोमांच हो आया। वास्तव में आचार्य महाराज ने यदि कथा-पुराणों में ऐसे-ऐसे उदाहरण न लिखे होते तो आज पाप से कौन डरता?

नरेश—हाँ भाई, और देखो तो सही, एक घण्टे के लिए भी किया गया मुनि का सानिध्य उस गौतम दरिद्री के लिए वरदान बन गया।

सुरेश—ओहो! सचमुच में उसने मात्र पेट भरने के लिए ही उन मुनि का पीछा किया था किन्तु सदा-सदा के लिए उसने अपनी आत्मा का पोषण कर लिया।

नरेश—आज भी बड़े सौभाग्य की बात है कि इस निकृष्टकाल में भी हमें मुनियों के, आर्यिका-माताओं के दर्शन मिल रहे हैं। उनके पवित्र सानिध्य से, उनके उपदेश से व उनके पास कुछ-न-कुछ व्रत ग्रहण करके अपने को भी अपना जीवन पवित्र कर लेना चाहिये।

क्या रावण राक्षस और दशमुख वाला था?

शिष्य—गुरूजी! रावण राक्षस था या मनुष्य?

गुरूजी—रावण मनुष्य था और वैभवशाली विद्याधर था। उसे राक्षस क्यों कहते हैं? उसका इतिहास मैं तुम्हें बताता हूँ, सुनो—

विजयार्ध पर्वत पर चक्रवालनगर में विद्याधरों के राजा पूर्णघन राज्य करते थे। किसी समय सहस्रनयन विद्याधर ने युद्ध में राजा पूर्णघन को मारकर उनके पुत्र मेघवाहन को नगर से निकाल दिया। वह मेघवाहन यत्र-तत्र भ्रमण करते हुए भी जब विद्याधरों के द्वारा बहुत त्रसित किया गया, तब तीन लोक के नाथ अजितनाथ भगवान के समवसरण में पहुँच गया। वहाँ पर मेघवाहन और सहस्रनयन भगवान की स्तुति करके पूर्व भवों को सुनकर परस्पर के वैर-भाव को छोड़कर बैठ गये।

उस समय भगवान के समवसरण में राक्षस जाति के व्यंतर देवों के इन्द्र भीम और सुभीम प्रसन्न होकर मेघवाहन से कहने लगे कि हे विद्याधर बालक! तू धन्य है जो जिनेन्द्र देव की शरण में आया है। हम दोनों तुझसे प्रसन्न हैं और तेरे हित की कुछ बात कहते हैं—

इस लवणसमुद्र में अत्यन्त दुर्गम तथा अतिशय सुन्दर हजारों महाद्वीप हैं। उन महाद्वीपों में कहीं गन्धर्वदेव, कहीं किन्नरदेव, कहीं किंपुरुष देव आदि क्रीड़ करते हैं। उन द्वीपों के बीच एक राक्षस द्वीप है जो कि राक्षस जाति के व्यंतर देवें का क्रीड़ा का स्थान है। यह सात सौ योजन लम्बा और इतना ही चौड़ा है।

इस राक्षस द्वीप के मध्य में त्रिकूटाचल नाम का एक ऊँचा पर्वत है। यह नौ योजन ऊँचा और पचास योजन चौड़ा है। इसके सुवर्णमय किनारे नाना प्रकार के रत्नों से सुन्दर और लता वृक्षों से मनोहर हैं। उस पर्वत के नीचे बीस योजन विस्तृत लंका नगरी है। उसमें राक्षस वंशियों का निवास है। वह नगरी बड़े-बड़े जिनमन्दिरों, महलों, सरोवरों और उद्यानों से इन्द्रपुरी सरीखी जान पड़ती है। उसमें जाकर तू सुखपूर्वक निवास कर। ऐसा कहकर राक्षसों के इन्द्र भीम ने उसे देवाधिष्ठित एक हार दिया जो अपनी करोड़ों किरणों से चमक रहा था। उस इन्द्र ने मेघवाहन को जन्मान्तर के पुत्रप्रीति के कारण ही वह हार दिया था। इसके सिवाय इन्द्र ने उसे अलंकारोदय नाम का एक और नगर दिया जो

कि पृथ्वी के भीतर छुपा हुआ था। वह छह योजन गहरा, एक सौ साढ़े इकतीस योजन और डेढ़ कला प्रमाण चौड़ा था। उस नगर में शत्रुओं का प्रवेश अशक्य था। इन्द्र ने कहा कि कदाचित् कभी परचक्र का प्रवेश हो तो तू उसमें जाकर अपनी रक्षा करना।

इस प्रकार इन्द्र से वैभव प्राप्त कर वह मेघवाहन भगवान को नमस्कार कर वहाँ से चला। भीम इन्द्र ने उसे एक राक्षसी विद्या भी दी। वह उसे लेकर इच्छानुसार चलने वाले 'कामा' विमान पर बैठकर अपने परिजन-पुरजनों के साथ वहाँ 'लंकानगरी' में पहुँच गया। नगरी में प्रवेश करके सर्वप्रथम उसने जिनमन्दिर में जाकर जिनदेव की वन्दना-पूजा की। अनन्तर मंगलोपकरणों से युक्त अपने योग्य महल में रहने लगा और उसके अन्य भाई-बन्धु भी यथायोग्य महलों में रहने लगे।

कालान्तर में राजा मेघवाहन ने महाराक्षस नामक अपने पुत्र को राज्य देकर अजितनाथ के समवसरण में दीक्षा ले ली। महाराक्षस ने अपने पुत्र अमररक्ष को राज्य देकर और भानुरक्ष को युवराज बनाकर सल्लेखनापूर्वक मरण किया। अमररक्ष और भानुरक्ष के पुत्रों ने संध्याकार, सुवेल, मनोह्लाद आदि नाम के सुन्दर-सुन्दर नगर बसाये तथा वहीं पर दूसरे द्वीपों में रहने वाले विद्याधरों ने भी अनेक नगर बसाये थे। इस प्रकार मेघवाहन की बहुत बड़ी सन्तानपरम्परा चलती रही।

उसी परम्परा में एक मनोवेग नामक विद्याधर राजा के एक पुत्र हुआ उसका नाम 'राक्षस' रखा गया। वह प्रभावशाली राजा हुआ और उसके नाम से ही वह वंश 'राक्षस वंश' कहलाने लगा तथा राक्षस जाति के व्यंतर देवों के इन्द्र भीम-सुभीम द्वारा प्रदत्त द्वीप में रहने से ये लोग राक्षसवंशी कहलाते थे। वास्तव में ये सब विद्याधर मनुष्य थे। इस प्रकार करोड़ों विद्याधर राजा उस वंश में होते रहे और उनमें से कितनों ने दीक्षा लेकर मोक्ष पद और कितनों ने स्वर्ग पद प्राप्त किया। उसी परम्परा में राजा रत्नश्रवा हुए। उनकी रानी का नाम केकसी था। रानी केकसी ने एक उत्तम पुत्र को जन्म दिया जो कि प्रसूतिका गृह में मंद-मंद हँस्ता हुआ और हाथ-पैर हिलाने से चंचल हुआ पृथ्वीतल को भी कंपित कर रहा था।

प्रारम्भ में भीम नामक इन्द्र ने मेघवाहन को जो दिव्य हार दिया था, हजार नागकुमार देव उसकी रक्षा करते थे, उसकी किरणें सब ओर फैल रही थीं।

इनकी वंश परम्परा में राक्षसों के भय से उसे किसी ने नहीं पहना था। वह हार वहीं रखा हुआ था। ऐसे हार को उस बालक ने अनायास ही हाथ से खींच लिया। बालक को मुट्ठी में हार लिये देखकर माता घबरा गईं और बड़े प्रेम से उसे गोद में उठाकर प्यार किया। पिता ने भी उसे हार लिये देखकर यह समझ लिया कि यह कोई होनहार महापुरुष है। यह आश्चर्य देख माता ने वह हार उस बालक को पहना दिया। उस हार में जो बड़े-बड़े रत्न लगे हुए थे उसमें बालक के असली एक मुख के सिवाय नौ मुख और भी प्रतिबिंबित हो रहे थे इसलिये उस बालक का 'दशानन' नाम रखा गया। यह बालक बहुत ही सुन्दर, रूपवान और महापराक्रमी था।

किसी समय इसी दशानन ने बालि मुनिराज पर उपसर्ग करने हेतु कैलाश पर्वत को ही उठा लिया था। तब बालि मुनि ने रत्ननिर्मित जिन चैत्यालयों और तमाम जीवराशियों की रक्षा हेतु अपने पैर के अँगूठे से पर्वत को दबा दिया था जिससे रावण दबकर भयंकर करुण रुदन करने लगा था। तभी से उसका नाम 'रावण' (रौतीति रावणः' जो रोता है सो रावण है) हो गया था।

यह रावण प्रतिनारायण था अतः लक्ष्मण के द्वारा मरकर नरक गया। आगे रावण का जीव तीर्थंकर होगा।

शिष्य—गुरूजी! फिर आजकल लोग रावण को राक्षस क्यों कहते हैं?

गुरूजी—बेटा! जो लोग शास्त्र ज्ञान से अनभिज्ञ हैं वे ही ऐसा कहते हैं। अतः पद्मपुराण आदि जैन ग्रन्थों का स्वाध्याय करना चाहिये जिससे कि ऐसी गलत धारणाएँ निकल जाएँ।

किसी भी कार्य के प्रारंभ में इष्टदेव का नाम स्मरण करें

आरंभे तु पुराणस्यान्यव्यापाराय कस्यचित्।
''नमः सिद्धेभ्यः'' इत्युच्चैर्नभ्रीभूतो वदेद्वचः।।

अर्थ—किसी शास्त्र के प्रारंभ में तथा अन्य किसी भी कार्य के प्रारंभ में नम्रता के साथ ''ॐ नमः सिद्धेभ्यः'' इस पद का उच्चारण करना चाहिए।

अकाल में अध्ययन का कुफल

पुत्र–पिताजी! आज मैंने मुनिराज के मुख से उपदेश में सुना है कि जो अकाल में अध्ययन करते हैं, वे ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के बजाए उसका बन्ध कर लेते हैं। तो क्या ऐसा भी हो सकता है कि धार्मिक ग्रन्थों का पठन-पाठन और स्वाध्याय ज्ञान को बढ़ाने के बजाए ज्ञान को घटाने में कारण बन जाये?

पिताजी–हाँ बेटा! हो सकता है। सुनो, मैं तुम्हें एक ऐतिहासिक घटना सुनाता हूँ।

एक शिवनन्दी नाम के मुनिराज थे। गुरू ने उन्हें बतलाया था कि रात्रि में श्रवण-नक्षत्र का उदय हो जाने पर स्वाध्याय का समय होता है, उसके पहले अकाल है। उन्हें ऐसा मालूम होते हुए भी वे अपने तीव्र ज्ञानावरणकर्म के उदय से उस गुरू-आज्ञा की अवहेलना करके अकाल में स्वाध्याय किया करते थे। फलस्वरूप अन्त में असमाधि से मरण करके पापकर्म के निमित्त से गंगा नदी में महामत्स्य हो गये। आचार्यों ने ठीक ही कहा है कि–

''जिनज्ञालोपनेनैवं प्राणी दुर्गतिभाग्भवेत्।''[1]

जिनेन्द्र देव की आज्ञा का लोप करने पर यह प्राणी दुर्गति में चला जाता है।

पुनः उस नदी के तट पर स्थित एक महामुनि उच्च स्वर से स्वाध्याय कर रहे थे। इस मत्स्य ने उस पाठ को सुना तो इसे जातिस्मरण हो गया–''ओहो! मैं भी इन्हीं के सदृश मुनिवेश में ऐसे ही स्वाध्याय करता रहता था पुनः मैं इस तिर्यंचयोनि में कैसे आ गया? हाय! हाय! मैं जिनागम की और गुरू की आज्ञा को कुछ न गिनकर अकाल में भी स्वाध्याय करता रहा, जिसके फलस्वरूप मुझे यह निकृष्ट योनि मिली है। सच में आगम के पढ़ने का फल तो यही है कि उसके अनुरूप प्रवृत्ति करना। अब मैं क्या करूँ?'' कुछ क्षण सोचकर वह मत्स्य किनारे पर आकर गुरू के सन्मुख पड़ गया। गुरू ने उसे भव्य जीव समझकर सम्यक्त्व ग्रहण कराया तथा पंच अणुव्रत दिये। उस मत्स्य ने भी सम्यक्त्व के साथ-साथ अणुव्रतों को पालते हुए जिनेन्द्र भगवान के चरण-कमलों को अपने हृदय में धारण किया और आयु पूर्ण करके मरकर स्वर्ग में महर्द्धिक देव हो गया।

1. आराधना कथाकोश कथा 88।

पुत्र–पिताजी! यह घटना तो रोमांच उत्पन्न कर देती है। वे महामुनि ज्ञान की वृद्धि के लिये ही तो काल-अकाल का लक्ष्य न देकर स्वाध्याय कर रहे थे, फिर भी देखो, वे तिर्यंच योनि में चले गये। सचमुच में आगम की और गुरू की आज्ञा पालन करना ही सम्यक्त्व है। पिताजी! तो जो लोग आजकल आगम और गुरू की आज्ञा को कुछ न समझकर मनमानी प्रवृत्ति से धर्म क्रियायें करते हैं या स्वेच्छा प्रवृत्ति से विधि-विधान करते हैं सो वह भी अशुभ फल का कारण हो सकता है क्या?

पिताजी–हाँ बेटा! कदाचित् वह अल्पफल देगा और कदाचित् जिनागम की अवहेलना के निमित्त से वह अशुभ फल भी दे सकता है। उपर्युक्त उदाहरण के देखने से इसमें संशय ही क्या है?

पुत्र–पिताजी! स्वाध्याय के लिये काल और अकाल कब-कब होते हैं?

पिताजी–प्रातः, सायं, मध्याह्न और अर्धरात्रि के मध्य के डेढ़-डेढ़ घण्टे का समय अकाल है। ऐसे ही दिग्दाह, उल्कापात, दुर्दिन, संक्रांति का दिन आदि भी अकाल है। इनसे अतिरिक्त काल सुकाल है। यह व्यवस्था सिद्धान्त ग्रंथादिकों के लिये बताई गई है किन्तु आराधना ग्रन्थ, कथा ग्रन्थ या स्तुति ग्रन्थों को अकाल में पढ़ने का निषेध नहीं है। इस काल और अकाल का विशेष वर्णन मूलाचार, अनगारधर्मामृत एवं धवला की नवमी पुस्तक से देख लेना चाहिये।

पुत्र–ठीक है, अब मैं सभी ग्रन्थों का यथासमय स्वाध्याय करके आगम के वचनों पर पूर्ण श्रद्धा रखूँगा।

जिनके उर में कल-कल बहती, गंगा की निर्मलधारा।
त्याग और शुभ ज्ञान मणि से, जिनने निज को शृंगारा।।
वचनों के मोती बिखरातीं, युग की पहली बालसती।
मेरा शत वन्दन स्वीकारो, गणिनी माता ज्ञानमती।।

–आर्यिका चंदनामती

बन्दर की लीला

लंका के राजा विद्युत्केश अपनी रानी श्रीचन्द्रा के साथ प्रमदवन में क्रीड़ा कर रहे थे। कुछ क्षण बाद श्रीचन्द्रा पतिदेव से कुछ दूर पहुँचकर वन की प्राकृतिक छटा का अवलोकन कर रही थी कि इसी बीच एक बन्दर वहाँ आया और श्रीचन्द्रा को देखकर खोखने लगा। श्रीचन्द्रा घबराकर इधर-उधर देखने लगी तब बन्दर ने उसकी साड़ी पकड़ ली। नाखूनों से उसके शरीर पर खरोंचें बना दीं। वह रानी जोर-जोर से रोने लगी।

रानी के रोने की आवाज सुनते ही राजा विद्युत्केश दौड़े आये और उसके शरीर में जहाँ-तहाँ नखों के घाव देखकर घबराये। रानी ने कहा–"स्वामिन्! इस बन्दर ने बिना कारण ही मुझे सताया है।" राजा को देखते ही वह बन्दर वहाँ से भागा किन्तु राजा ने क्रोध में आकर उस पर बाण का निशाना लगाया। बाण से घायल हुआ वह बन्दर वेग से भागता हुआ आगे कुछ दूर जाकर गिर पड़ा और छटपटाने लगा। वहीं पर आकाशगामी ऋद्धि से सहित एक महामुनि विराजमान थे। वे उस बन्दर को वैसी मरणासन्न स्थिति में देखकर उसके निकट आये। करुणाबुद्धि से उसे उपदेश दिया और कहा–

हे वानर! तुमने पूर्व में कुछ पाप-कर्म किया होगा जिसके फलस्वरूप इस तिर्यंच योनि में बन्दर हुए हो। जहाँ कोई किसी का नाथ या रक्षक नहीं है। अब इस समय तुम्हारी स्थिति मरने के सन्मुख है, अतः अब तुम सम्पूर्ण पदार्थों का त्याग कर दो, भोजन-पानी आदि का त्याग करके सल्लेखना स्वीकार करो कि जिससे अगले भव में तुम इस तिर्यंच योनि से छूटकर अच्छी गति प्राप्त कर लो। शरीर की वेदना से मन को हटाओ और मैं महामन्त्र सुना रहा हूँ तुम एकाग्रमन से सुनो। यह मन्त्र तुम्हें सर्वदुःखों से छुड़ा देगा।" इतना कहकर मुनिराज उसे णमोकार मन्त्र सुनाने लगे–

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

अरिहंतों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक में सर्व-साधुओं को नमस्कार हो।

इस मन्त्र को सुनते-सुनते ही बन्दर के प्राण निकल गये और वह इस

निंद्य शरीर को छोड़कर अड़तालीस मिनट के भीतर-भीतर में ही भवनवासी देवों में महोदधि कुमार नाम का देव हो गया।

इधर राजा विद्युत्केश उस बन्दर को मारकर आस-पास में खेलते हुए अन्य बन्दरों को भी मारने के लिये तैयार हो गये।

उधर महोदधि देव दिव्य वैक्रियिक शरीर प्राप्त कर सोचने लगा कि–"मैं कौन हूँ? और कहाँ से आया हूँ? यह स्थान क्या है?"

उसी क्षण उसे दिव्य अवधिज्ञान प्रगट हो गया जिसके निमित्त से उसने सारी घटना जान ली। वह सोचने लगा–"ओह! देखो, यह राजा कितना निर्दयी है। अपनी राज-सत्ता के मद में चूर हो रहा है। अरे! बन्दर स्वभाव से ही चंचल होते हैं। यदि मैंने बन्दर की पर्याय में इसकी पत्नी को नोंच-खसोट दिया तो क्या उसका दण्ड प्राणों से ही खत्म कर देना था। और फिर अब वह निर्दयी अन्य अनेक निरपराधी बन्दरों को क्यों मार रहा है?"

ऐसा सोचकर वह महोदधि देव वहाँ आ पहुँचा और उसने एक क्षण में अपनी विक्रिया से बहुत बड़ी वानर सेना बना ली। उन सभी वानरों के मुख दाढ़ों से विकराल थे, उनकी भौंहें चढ़ी हुई थीं और सिन्दूर के समान लाल-लाल उनका वर्ण था। वे सभी राजा के सामने आ गये। किसी ने हाथ में पर्वत उठा लिया, किसी ने बड़े-बड़े वृक्ष उखाड़ लिये और कोई हाथों से पृथ्वी को ही कूटने लगे। उस समय वे सभी बन्दर बहुत ही विकराल दिख रहे थे। ऐसे मायामयी वानरों ने कुपित हुए राजा विद्युत्केश से कहा–"अरे मूर्ख विद्याधर! अब तेरी मृत्यु आ गई है ऐसा समझ, ओ पापी! वानरों को मारकर तू किसकी शरण में जायेगा?"

इतना कहते हुए उन सभी वानरों ने भूमि और आकाश मण्डल को इतना व्याप्त कर दिया कि वहाँ सुई रखने की भी जगह नहीं रह गई। इस दृश्य को देखकर राजा विद्युत्केश के आश्चर्य का ठिकाना ही न रहा। वह सोचने लगा–"यह वानरों का बल नहीं है और न ही वानर ऐसी मनुष्यों की भाषा में बोल सकते हैं, यह तो कुछ और ही होना चाहिये।"

वह राजा अपने जीवन की आशा छोड़कर मधुर वाणी में विनयपूर्वक उन वानरों से पूछने लगा–"हे सत्पुरुषों! कहो, आप लोग कौन हो? तुम्हारे शरीर अत्यन्त चमक रहे हैं और तुम्हारी भाषा मनुष्यों जैसी है। ये सभी योग्यतायें वानर तिर्यंचों में तो सम्भव नहीं हैं।"

विद्याधर राजा को नम्र हुआ देखकर महोदधि देव कहने लगा–"हे राजन्! पशु जाति के स्वभाव से चपल वानर ने जो आपकी स्त्री को कष्ट दिया था और फिर जिसे तूने मारा था, वह मैं ही हूँ। साधु के प्रसाद से मैंने इस देवपद को प्राप्त कर लिया है। इस पर्याय से मैं महान शक्ति और वैभव से सम्पन्न हो चुका हूँ। तुम मेरी विभूति को देखो।"

इतना कहकर देव ने अपना तमाम वैभव उसको दिखलाया। यह देख राजा विद्युत्केश भय से काँपने लगा। तब देव उसे वैसा देख दयार्द्र होकर कहने लगा–"डरो मत, डरो मत।"

इस स्थिति में सान्त्वना प्राप्त कर राजा कहने लगा–"हे देव! अब मैं क्या करूँ? आप जो आज्ञा दें, मैं पालने को तैयार हूँ।"

तब देव ने कहा–"राजन्! जिन्होंने मुझे पंच नमस्कार मन्त्र सुनाकर दैवीय सम्पदा प्राप्त कराई है। चलो, हम और आप उन्हीं के पास चलें और उनके प्रसाद से पवित्र दयामयी धर्म को ग्रहण करें।"

राजा अपनी रानी श्रीचन्द्रा को साथ लेकर देव के साथ मुनिराज के समीप पहुँचे। तीनों ने बड़ी भक्ति से गुरू की प्रदक्षिणायें कीं और उन्हें विधिवत् नमस्कार किया। पुनः महोदधि कुमार कहने लगा–"हे अशरण के शरण! हे दुःखिजनवत्सल! हे दयासिन्धो! आपने अभी कुछ क्षण पूर्व जिस वानर को उपदेश दिया था और पंच नमस्कार मन्त्र सुनाया था, वह मैं ही हूँ। हे गुरूदेव! आपकी कृपा प्रसाद से मैं इस निंद्य पर्याय से छूटकर दिव्य देव पर्याय को प्राप्त हुआ हूँ।"

इतना कहकर देव ने महामालाओं से मुनिराज के चरणों की पूजा की तथा बार-बार उनके श्रीचरणों में नमस्कार किया। यह सब आश्चर्य देखकर राजा विद्युत्केश एकदम शान्त हो गया था अतः अब वह गुरूदेव के चरणों में नमस्कार कर पूछता है–"हे नाथ! मैं क्या करूँ? मेरा क्या कर्त्तव्य है?"

इतना सुनकर मुनिराज अपने मुखचन्द्र से अमृत की वर्षा करते हुए के समान बोले–"चार ज्ञान के धारी हमारे गुरू यहीं पास में विद्यमान हैं, सो हम लोग उन्हीं के समीप चलें, यही सनातन धर्म है क्योंकि आचार्य के निकट विद्यमान होने पर भी जो शिष्य आप स्वयं उपदेश आदि आचार्य का काम करता है वह शिष्य न शिष्य रहता है और न आचार्य ही कहलाता है।"

मुनिराज के उक्त वचन सुनकर देव और राजा परम आश्चर्य को प्राप्त हुए। वे सोचने लगे–"अहो! तप का कैसा अचिन्त्य माहात्म्य है कि ऐसे महासाधु भी अपने गुरू को इतना सम्मान देते हैं!"

सभी लोग मुनिराज के साथ गुरू के पास पहुँचे। गुरूदेव की तीन प्रदक्षिणाएँ दीं और भक्ति से उन्हें नमस्कार किया। वे मुनि भी गुरू की वन्दना करके उनके निकट विनय से बैठ गये। तब देव और विद्युत्केश राजा ने हाथ जोड़कर विनयपूर्वक गुरू से धर्म का स्वरूप पूछा। गुरू ने दयामयी परमधर्म का उपदेश दिया। अनन्तर देव और विद्युत्केश राजा दोनों ने मुनिराज से अपने पूर्वभवों को पूछा। मुनिराज के मुख से भव-भवांतरों को सुनकर राजा विद्युत्केश संसार के भोगों से विरक्त हो गये अतः उन्होंने अपने पुत्र सुकेश को राज्यभार सौंपकर उन मुनिनाथ के पास दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली।

महोदधि कुमार देव भी पाप से भीरुमना होता हुआ धर्म में अतिशय प्रीति को प्राप्त हुआ। पुनः पुनः मुनियों को नमस्कार करके वह अपने स्थान को चला गया।

सच है धर्म का माहात्म्य अचिंत्य है। देखो, एक चंचल प्राणी बन्दर मरणासन्न स्थिति में गुरूमुख से धर्म को श्रवण कर और महामन्त्र को प्राप्त कर उत्तमदेव हो गया। पुनः गुरू प्रसाद से सदा के लिये धर्म में अनुरागी बन गया है।

महामंत्र की महिमा

उठते, बैठते, चलते, फिरते समय, घर से निकलते समय, मार्ग में चलते समय, घर में कुछ काम करते समय पद–पद पर जो णमोकार मंत्र को जपते रहते हैं उनके कौन से मनोरथ सफल नहीं हो जाते हैं? अर्थात् संपूर्ण वांछित सिद्ध हो जाते हैं।

छींक आने पर, जंभाई लेने पर, खांसी आदि आने पर या अकस्मात् कहीं वेदना के उठ जाने पर या चिंता हो जाने पर, सोते समय और सोकर उठते ही और आश्चर्य आदि प्रसंगों में श्री जिनेन्द्रदेव का स्मरण करना चाहिए।

क्या जैन निरीश्वरवादी हैं?

सुधेश—पिताजी! आज स्कूल में मास्टर साहब ने बतलाया कि जैन नास्तिक हैं, क्योंकि वे निरीश्वरवादी हैं, सो मुझे कुछ समझ में नहीं आया। आप तो बहुत बार कहा करते हैं कि जैन सच्चे आस्तिक हैं।

पिताजी—हाँ सुधेश! तुमने अच्छा प्रश्न किया है। देखो, हम बताते हैं, सुनो। जैनों को अन्य सम्प्रदायवादियों ने इसलिये नास्तिक कहा है कि जैन वेदों को नहीं मानते हैं और ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं मानते हैं। बस इतने मात्र से लोग जैनों को निरीश्वरवादी कह देते हैं।

सुधेश—जैन वेदों को क्यों नहीं मानते हैं?

पिताजी—हमारे यहाँ जिनेन्द्र भगवान की सच्ची वाणी ही वेद है और उसके भी प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग ये चार भेद हैं अतः वेद के चार भेद होते हैं।

सुधेश—अन्य लोगों ने जो अथर्व आदि वेद माने हैं वे कैसे हैं?

पिताजी—पहली बात कि ये लोग कहते हैं कि वेद अपौरुषेय हैं अर्थात् इनके कर्ता कोई भी नहीं हैं, सो बात असम्भव है। अपने यहाँ वेदों के मूलकर्ता तीर्थंकर होते हैं। जैसे वर्तमान में भगवान महावीर थे और ग्रन्थकर्ता श्री गौतम स्वामी गणधर थे। परम्परा से उन्हीं के वचनों का आश्रय लेकर अन्य-अन्य आचार्यों ने भी ग्रन्थ रचे हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि द्रव्यदृष्टि से श्रुत अनादिनिधन है, क्योंकि उसमें जो कुछ प्रतिपादित है वह सब अनादिनिधन है। केवल तीर्थंकर इसके प्रकाशक या प्रचारक होते हैं तथा ग्रन्थ रूप से यह श्रुत सादि-सांत ही हैं।

दूसरी बात यह है कि अन्य मत के वेदों में जगह-जगह हिंसा का भी विधान आया है इसलिए हिंसा में धर्म मानने वाले, पंचाग्नि तप करने वाले सही मार्गी नहीं हैं और इन वेदों की उत्पत्ति कैसे हुई है? सो मैं फिर कभी बताऊँगा। इसलिये जैन इन वेदों को प्रामाणिक नहीं मानते हैं।

सुधेश—और ईश्वर को सृष्टि का कर्ता क्यों नहीं मानते हैं? ईश्वर के बिना इस चित्र-विचित्र विश्व का निर्माण कैसे होगा?

पिताजी—नहीं बेटा, ऐसी बात नहीं है। यदि ईश्वर को वे सृष्टि का कर्ता

मान लें तो बहुत दोष आते हैं। बताओ वह कृतकृत्य सिद्ध फिर इस जगत के रचने के चक्कर में क्यों पड़ेंगे? दूसरी बात यह है कि परमकारुणिक ईश्वर किसी को सुखी और किसी को दुःखी क्यों बनाता है? फिर उसकी परम करुणा कहाँ रही?

सुधेश—वाह! जो प्राणी पाप करते हैं उन्हें तो पाप का दण्ड भोगना ही पड़ेगा।

पिताजी—तो ईश्वर ने पाप नाम की सृष्टि का निर्माण ही क्यों किया? क्या उसे नहीं मालूम था कि पाप से जीव दुःखी होंगे। इसलिये बेटा, सच्चे करुणासागर ईश्वर ने इस जगत की सृष्टि का निर्माण नहीं किया है।

सुधेश—तो फिर यह कैसे उत्पन्न हुई?

पिताजी—यह विश्व अनादि निधन है और सभी चेतन-अचेतन द्रव्य भी अनादि निधन हैं। यह जीव स्वयं कर्मों से बँधा हुआ है और पुनः पुनः राग-द्वेषादि परिणामों से कर्मों को बाँधता रहता है तथा उन्हीं कर्मों का फल सुख-दुःख भी भोगता रहता है। जब यह जीव गुरू के उपदेश आदि निमित्तों को प्राप्त करके मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय आदि को छोड़ देता है तब कर्मों का नाश करके स्वयं सिद्ध परमात्मा बन जाता है। वह जीव फिर वापस संसार में कभी नहीं आता है। ऐसे अनन्तों जीव सिद्ध हो चुके हैं।

सुधेश—फिर तो एक-न-एक दिन संसार खाली हो जायेगा, तब तो संसार को बसाने के लिये सिद्धों को वापस आना ही पड़ेगा।''

पिताजी—नहीं, यह जीवराशि अक्षय-अनन्त है। इसका कभी भी किसी भी काल में अन्त नहीं होगा और न कभी सिद्धों को यहाँ आना ही पड़ेगा।

सुधेश—तब ईश्वर किसी का कुछ न्याय-निर्णय भी नहीं करता होगा।

पिताजी—नहीं, क्योंकि ईश्वर तो कृतकृत्य हो चुके हैं। अब उन्हें कुछ करना ही शेष नहीं है। स्वयं ही जीव कर्मों के अनुसार अच्छे-बुरे फल भोगता रहता है, यह प्राकृतिक व्यवस्था भी अनादि निधन है अतः ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानना गलत है।

सुधेश—तब तो जैन निरीश्वरवादी हो ही गये।

पिताजी—नहीं, क्योंकि जैनों ने ईश्वर को सृष्टि का कर्ता न मानकर भी ईश्वर का अस्तित्व माना है। देखो, अरिहन्त, सिद्ध परमेष्ठी ही सच्चे ईश्वर हैं।

जैनों ने तो अनन्त ईश्वर का अस्तित्व माना है। प्रत्येक जीव जो कर्मों को नाश कर चुके हैं, वे सभी अपने-अपने अस्तित्व को लिये हुये स्वयं स्वतन्त्र हैं और सभी अनन्त गुणों के स्वामी हैं। अनन्त सुख के भोक्ता हैं। और तो क्या, हम-तुम भी भावी नैगमनय से ईश्वर हैं–सिद्ध हैं। समझे।

सुधेश–क्या हम भी ईश्वर बन सकते हैं?

पिताजी–अवश्य, यही तो जैन धर्म की उदारता और विशालता है कि प्रत्येक प्राणी को ईश्वर बनने का अधिकारी बताता है। देखो! हिंसक सिंह भी पुरुषार्थ से भगवान महावीर हो गया, हाथी पार्श्वनाथ हो गया। ऐसे अनेकों उदाहरण हैं अतः जब तुम पुरुषार्थ करोगे, तभी सिद्ध बन सकोगे, ऐसे नहीं बन सकते हो।

सुधेश–यह पुरुषार्थ क्या है?

पिताजी–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्ष का उपाय है और उन्हें ग्रहण करना ही सिद्ध बनने का पुरुषार्थ है।

सुधेश–हाँ, हाँ, तत्त्वार्थसूत्र में मैंने इसे पढ़ा है।

पिताजी–तब तो तुम्हें इनका बार-बार मनन करना चाहिये और पूर्णरूप से जब तक तुम मुनि न बन सको, तब तक एक देश (अणुव्रतों को) व्रत धारण करना चाहिये।

सुधेश–अब मेरी समझ में आ गया कि जैन नास्तिक नहीं हैं, न निरीश्वरवादी हैं, किन्तु ये सच्चे आस्तिक और ईश्वरवादी हैं। अब मैं स्कूल में मास्टरजी को भी सारी बातें बताऊँगा और अपने मित्रों को भी बताऊँगा जिससे कि वे लोग भी गलत धारणा न बना लें और समय-समय पर दूसरों को भी समझा सकें।

पिताजी–हाँ, सुधेश! बड़ी मधुरता से समझाना, नहीं तो कुछ लोग जैनों से द्वेष करने लग जाते हैं।

सुधेश–अच्छा पिताजी! मैं उन लोगों को बड़ी युक्ति से मधुर शब्दों में सुनाऊँगा जिससे वे बुरा न मानें, बल्कि सही स्थिति को समझ लेवें। यदि उन्हें अधिक जिज्ञासा हुई तो मैं आपके पास ले आऊँगा।

पिताजी–ठीक है, ऐसा ही करना।

मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो

पवन–मित्र सुशील! आज मैंने शिक्षण शिविर में छहढ़ाला पढ़ते हुए ये पंक्तियाँ पढ़ी हैं कि–

'मुनिव्रतधार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।'

तभी से मुझे दिगम्बर मुनियों के प्रति तीव्र अरुचि हो गई है इसलिये आज प्रातः मन्दिर में ठहरे हुए मुनियों को मैंने 'नमोऽस्तु' भी नहीं किया और उनसे वार्तालाप भी नहीं किया, न ही उनका उपदेश सुना और न उनको मैंने आज आहार ही दिया है।

सुशील–(आश्चर्य से) ऐं! मित्र आप क्या कह रहे हैं? आपने इस पंक्ति का अर्थ भला क्या समझा है? मुझे भी तो समझाइये!

पवन–भाई! अनन्तों बार इस जीव ने मुनिव्रत धारण किया किन्तु इसे आत्मा का बोध नहीं हुआ। वास्तव में यह आत्मा शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निर्विकार और निराकार है, अमूर्तिक है। इसके साथ कर्मका सम्बन्ध नहीं है, ऐसा नहीं समझा। समयसार का स्वाध्याय नहीं किया मात्र बाह्य तपश्चरण के बल से शरीर को सुखा-सुखाकर नवमें ग्रैवेयक में अहमिंद्र भी हो गया, फिर भी वापस यह जीव पंच परिवर्तन रूप संसार में ही भ्रमण करता रहा है इसलिये मुनिव्रत धारण करने वाले सभी जन इसी श्रेणी में ही तो हैं, अतः इन द्रव्यलिंगी मुनियों की क्या वन्दना करना?

सुशील–बन्धु! तो क्या आत्मा का ज्ञान गृहस्थों को ही होता है? क्या गृहस्थ ही मोक्ष जाने के अधिकारी हैं? बात क्या है सो तो कहिये।

पवन–मित्र! ये मुनि लोग केवल बाह्य क्रिया में ही धर्म मानते हैं? आत्मतत्त्व के ज्ञान से बिलकुल परे हैं। मूलाचार, आचारसार के सिवाय कभी भी समयसार तो हाथ में भी नहीं लेते हैं। क्या बताऊँ मित्र! मेरी श्रद्धा तो कई दिनों से डगमगा रही थी और आज तो बिल्कुल ही हट गई।

सुशील–(हँसकर) मित्र! तुमने गजब का अनर्थ कर डाला। अहो! तुमने पं. दौलतराम जी के छहढालारूप शास्त्र को शस्त्र बना लिया और उस शस्त्र से अपना ही घात कर रहे हो।

पवन–(आश्चर्य से) ऐं! मित्र! आप क्या कह रहे हैं? क्या मैंने गलत समझा है? यदि एक मैं ही ऐसा समझने वाला होऊँ तो तुम मुझे गलत भी कह

सकते हो किन्तु वहाँ तो बड़े-बड़े विद्वान्, बड़े-बड़े श्रीमान् सभी लोग इस पंक्ति को पढ़ने के बाद मुनियों की आलोचना करने लगे। कोई-कोई तो बड़े हल्के शब्दों में उनकी भर्त्सना कर रहे थे। मैं आपको क्या बताऊँ.....।

सुशील—(बात काटकर) भाई! कुछ विद्वान् या कुछ श्रीमान् अमृत को विष और विष को अमृत कह दें अथवा रत्न को काँच और काँच को रत्न कह दें, तो क्या वैसा ही हो जायेगा?

पवन—नहीं, ऐसा तो नहीं हो सकता।

सुशील—हाँ, तो अब आप इन पंक्तियों के विषय में मेरा भी अभिमत सुनिये।

पवन—हाँ, हाँ, सुनाइये मैं सहर्ष सुनूँगा।

सुशील—इस श्लोक से आप सम्यग्दर्शन की दुर्लभता को समझिये और उसको प्राप्त करने में प्रयत्नशील होइये, यह मतलब है न कि जैसा आप समझ रहे हैं, वैसा है। देखिये—एक बहुमूल्य हीरा रत्न है। उसकी कीमत एक करोड़ रुपये है। किसी जौहरी के पास एक लाख रुपया है। वह रात-दिन एड़ी से चोटी तक का पसीना एक करके अपने व्यापार को बढ़ाकर अधिक रुपया एकत्रित करके उस हीरक रत्न को खरीद लेता है। मान लीजिये किसी व्यक्ति के पास दस हजार रुपये ही हैं और वह उस हीरे को खरीदना चाहता है तो वह भी रात-दिन श्रम करके कदाचित् भाग्योदय से जल्दी से एक करोड़ रुपया संग्रह कर लेता है और उस हीरे को खरीद लेता है किन्तु जिसके पास कानी कौड़ी भी नहीं है, मात्र भीख माँगकर पेट भर रहा है वह उस हीरे को खरीदने में कैसे समर्थ हो सकेगा?

भाई! यह तो मैंने एक दृष्टांत मात्र दिया है अब मूल विषय पर आइये। पहले तो जो मुनि सम्यग्दर्शन से सम्पन्न हैं, सम्यग्ज्ञानी हैं और सम्यक्चारित्र रूप महाव्रतों को पालन करने वाले हैं, वे अरबों-खरबों की सम्पत्ति से अधिक धनी के सदृश तीनों रत्नरूप रत्नत्रय के स्वामी हैं। मान लीजिये, द्रव्यलिंगी मुनि जो कि अनन्तों बार ग्रैवेयक तक भी जाने वाले माने जाते हैं, प्रायः ये अभव्य होते हैं। यदि कदाचित् भव्य भी हैं, तो वे एक लाख रुपये के जौहरी के सदृश हो सकते हैं और अपने चारित्ररूप पुरुषार्थ के बल से करणलब्धि रूप करोड़ का धन पाकर उस सम्यक्त्वरूपी हीरे को खरीद लेते हैं। यदि देशव्रती श्रावक हैं, क्षुल्लक या ऐलक आदि हैं और वे सम्यग्दर्शन से शून्य मात्र बाहर

से ही व्रती हैं तो वे भी दस हजार की सम्पत्ति वाले व्यापारी के सदृश हैं। अपने व्यापार को बढ़ाकर पुरुषार्थ के बल से करोड़पति बनकर उस सम्यक्त्वरूपी हीरे को ग्रहण कर लेते हैं किन्तु जिनके पास देशव्रत या महाव्रत आदि रूप बाह्यसम्पत्ति भी नहीं है वे बेचारे अत्यन्त दरिद्री ही हैं.....।

पवन—(बात को बीच में ही काटकर) तो मित्र! आपकी दृष्टि में व्रत रहित अव्रती को सम्यक्त्व हो ही नहीं सकता। पुनः नरक में नारकियों को या देवों को भी सम्यक्त्व कैसे होता है?

सुशील—पहले आप मेरी पूरी बात सुन लीजिये, तब आपको स्वयं ही समाधान हो जायेगा। भाई! नव ग्रैवेयक तक जाने वाले मुनियों के पास में अनेक ऐसे साधन मौजूद हैं जिससे वे सम्यक्त्व को जल्दी ग्रहण कर सकते हैं। बशर्ते उनका संसार अतिदीर्घ नहीं हो तो। किन्तु उतने साधन साधारण गृहस्थों के पास नहीं हैं जो कि रात-दिन पंचेन्द्रियों के विषयों में, धन कमाने में और कुटुम्ब पोषण के आर्तध्यान में ही सने हुए हैं। यह तो बाह्य साधन की बात मैंने आपको बताई है तथा एक बात और विशेष समझिये कि—

जैसे कोई एक अन्धा मनुष्य अत्यन्त निर्धन था। दुःख से व्याकुल होकर घर से निकला। अकस्मात् एक ठूँठ से टकराकर गिर गया और उसके सिर में चोट आ गई। इसी बीच में उसकी आँख खुल गई तथा जमीन के कुछ खुद जाने से उसे धन से भरा हुआ एक घड़ा मिल गया तो यह 'अंधक-निधान' नामक न्याय कहलाया। ऐसे ही किसी के पास बाह्य साधन सामग्री कुछ भी न होने पर भी यदि सम्यक्त्व रूपी रत्न का लाभ हो जाये तो समझिये 'अंधक-निधान' न्याय जैसी बात है जो कि उसे बाह्य उपदेश आदि साधन सामग्री के बिना ही निसर्गज सम्यक्त्व का लाभ हो गया है, किन्तु यह सबके लिये सुलभ नहीं है।

सम्यक्त्व की उत्पत्ति में आचार्यों ने बाह्य निमित्त बताये हैं। उनमें जिनबिम्ब दर्शन, देवऋद्धि दर्शन, जातिस्मरण, गुरू उपदेश आदि कारण कहे हैं। ये सब कारण पुरुषार्थ द्वारा व्यापार बढ़ाकर धन अर्जन करके हीरे को खरीदने के समान हैं। वैसे ही जिनके पास सम्यक्त्व नहीं है उनके अणुव्रत या महाव्रत अथवा तपश्चरण आदि भी सम्यक्त्व के लिये कारण बन सकते हैं किन्तु जिनके पास कुछ भी नहीं है ऐसे असंयमी गृहस्थ सतत आर्तध्यान में संलग्न रहने वालों को यदि सम्यक्त्व प्राप्ति हो जाती है तो वह भी जिनबिम्ब दर्शन आदि बाह्य कारणों की अपेक्षा रखती है। अस्तु।

दूसरी बात यह है कि हमेशा धर्मध्यान में तत्पर रहने वाले प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक अथवा चौबीस घंटे तक सामायिक, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि नियमित चर्या करने वालों को जोसम्यक्त्व दुर्लभ है, वह सम्यक्त्व हम और आप जैसे हमेशा आर्तरौद्र ध्यान से कलुषित चित्त वालों के लिये जो कि कदाचित् ही देवपूजा, स्वाध्याय, तीर्थयात्रा, गुरूभक्ति आदि के निमित्त से धर्मध्यान करते हैं ऐसे लोगों के लिए अत्यन्त सुलभ हो, यह बात समझ में नहीं आती है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन के लिये दर्शनमोहनीय आदि सात प्रकृतियों का उपशम या क्षयोपशम अथवा क्षय यह अन्तरंग कारण है फिर भी मिथ्यात्व प्रकृति को खण्ड-खण्ड करने के लिये जिनभक्ति को भी विशेष कारण कहा गया है। यह जिनभक्ति का माहात्म्य धवला जैसे महाग्रन्थों में कहा गया है।

पवन—तो भाई! निष्कर्ष क्या निकला?

सुशील—निष्कर्ष यही निकला कि आज के सभी मुनि द्रव्यलिंगी ही हों, यह हम और आप नहीं समझ सकते। हाँ! कोई द्रव्यलिंगी भी हो सकते हैं। उनकी पहचान केवलज्ञानी के पास ही है। सभी आत्मा की चर्चा करने वाले अविरती गृहस्थ सम्यग्दृष्टि ही हों, यह भी निर्णय नहीं किया जा सकता। चूँकि ग्यारह अंगपाठी मुनि भी आत्मा की चर्चा करते हैं, सुनाते हैं, निर्दोष चारित्र पालते हैं तभी वे भी नव-ग्रैवेयक तक जा सकते हैं, अन्यथा नहीं।

सम्यग्दर्शन तो श्रद्धा का नाम है और उसका सही निर्णय केवलीगम्य ही है अतः जो रत्न मुनियों को भी दुर्लभ है वह सम्यक्त्व-रत्न हम और आपको तो अत्यन्त दुर्लभ ही है अतः मुनियों के प्रति दुर्भाव या उपेक्षाभाव करके अत्यन्त दुर्लभता से मिले हुए इस सम्यक्त्व को पंच परिवर्तनरूप संसार-समुद्र में फेंक नहीं देना चाहिये। उस रत्न की गुरूभक्तिपूर्वक सतत रक्षा करनी चाहिये। उनकी अवहेलना करके दर्शनमोहनीय का आस्रव नहीं करना चाहिये।

पवन—ठीक है मित्र! मेरी समझ में आ गया कि यह सम्यग्दर्शन बहुत ही दुर्लभ रत्न है। सम्यग्दर्शन के अनन्तर जो ज्ञान होता है, वह आत्मज्ञान कहलाता है। हमें देव-शास्त्र-गुरुओं के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते हुए अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान को सुरक्षित रखना है और गुरु के प्रसाद से अपने में चारित्र गुण का भी विकास करना है।

महाबली भीम

धर्मचन्द्र—भाई नेमिकुमार! कल मेरी माता कह रही थीं कि भीम में असीम शक्ति थी सो उनका कोई उदाहरण सुनाओ।

नेमिकुमार—सुनो भाई, तुम्हें आज एक बढ़िया-सा उदाहरण सुनाता हूँ। लाक्षागृह दाह से पाँचों पाण्डव और कुन्ती माता महामन्त्र के प्रभाव से बचकर निकल गये। मार्ग में आगे चलते-चलते गंगा नदी मिली। उसे पार करने के लिये नाव में ये छहों लोग बैठ गये और धीवर (मल्लाह) जल्दी-जल्दी नाव चलाने लगा। चंचल तरंगों से वह नौका अच्छी तरह चल रही थी कि अचानक गंगा नदी के बीचों-बीच में जाकर स्थिर हो गई और अनेकों उपायों से चलाई जाने पर भी नहीं चल सकी। तब पाण्डवों ने उस मल्लाह से इसका कारण पूछा। उसने बताया कि—"हे स्वामिन्! इस नदी में हमेशा रहने वाली एक तुण्डिका नाम की देवी है। वह अपना हक चाहती है।" तब युधिष्ठिर ने कहा—"हे धीवर! यहाँ तो हमारे पास नैवेद्य आदि कुछ भी नहीं है। हम नदी पार पहुँचकर व्यवस्था करके देवी को सन्तुष्ट कर देंगे।"

मल्लाह बोला—"राजन्! यह देवी उत्तम-उत्तम पकवानों से या खीर पूरी आदि से तृप्त नहीं होती है। यह देवी मनुष्य की बलि लेती है, तब तृप्त होती है। बलि लिये बगैर यह नौका आगे नहीं जाने देगी, प्रत्युत् नदी में डुबा देगी।"

उस समय सभी पाण्डव विचार करने लगे कि देखो! कुएँ से बचे तो खाई में पड़ गये। अरे! कहाँ तो हम लाख के घर में जलने से बचकर निकल आये पुनः यहाँ नदी में मरण आ गया। अरे-अरे! कर्मों की गति बड़ी विचित्र है। जैसे कोई समुद्र का पानी लांघकर छोटे से गड्ढे में डूब जाये और मर जाये, वैसे ही हमारी दशा हो रही है। बड़े-बड़े संकटों से तो बच गये हैं और यहाँ छोटे से संकट में फँस गये हैं। यह सब सोचते हुए युधिष्ठिर ने भीम से कहा—"भाई! कुछ उपाय सोचो।" भीम ने कुछ सोचकर कहा कि—"भाई! यह धीवर जरा से जर्जरित है और दरिद्र भी है। इसे ही तुंडिका की बलि देकर हम लोग नदी पार करेंगे।" यह वचन सुनते ही बेचारा धीवर काँपने लगा और बोला—"महाराज! यदि आप मुझे बलि दे देंगे तो फिर आगे कभी भी मल्लाह आप जैसे राजाओं को उस पार नहीं पहुँचायेगा। आपकी निंदा विश्व में फैल जायेगी कि आप कितने कृतघ्नी निकले।" धीवर की बात सुनते ही दयालुमना युधिष्ठिर

ने कहा–"भाई! ऐसी तुच्छ बात मत सोचो किन्तु बढ़िया उपाय सोचो।" पुनः भीम हँसकर बोले–"हे भ्रातः! इस देवी के लिए इन छोटे भाई नकुल और सहदेव में से किसी एक की बलि करके नदी पार करना ठीक है, सभी को नदी में डुबाना ठीक नहीं है।" तब युधिष्ठिर ने पुनः भीम को समझाया कि मेरे द्वारा ही ये मेरे भाई कैसे मारे जा सकते हैं? फिर भीम ने कहा–तब तो अर्जुन को बलि कर दो। युधिष्ठिर ने पुनः कहा–"भाई! क्या युद्ध कुशल अर्जुन के बिना अपना राज्य वापस मिलना सम्भव है? कदापि नहीं। इसलिये ऐसा विचार स्वप्न में भी मत करो।" तब भीम ने फिर हँसकर कहा कि–"आप किसी भाई का मरण नहीं चाहते हो तो इस माता कुन्ती को ही देवी की भेंट में चढ़ा दो।"

तब युधिष्ठिर ने कहा कि–"भाई! जिसने हम लोगों को नव माह गर्भ में धारण करके जन्म दिया, लालन-पालन किया ऐसी यह माता हमारे लिये हमेशा पूज्य है, क्योंकि कहा गया है–

जननीयं जगन्मान्या कथं हिंस्या हितार्थिभिः।
यतस्तु जगति ख्यातैर्माता तीर्थं प्रकथ्यते।।

अरे! जननी जगत मान्य होती है। हितार्थी लोग भला उसी की हिंसा करेंगे। क्योंकि जगत् में प्रसिद्ध पुरुषों ने तो माता को तीर्थ कहा है। हे भीम! तू न्याय में चतुर होकर ऐसे वचन कैसे बोल रहा है?"

इस प्रकार भीम के विनोद के अनन्तर विचारशील महामना युधिष्ठिर स्वयं देवी की बलि जाने के लिये तैयार हुए और सभी भाईयों को हित का उपदेश देकर माता की सेवा करने का आदेश दिया। पुनः वे गीले वस्त्र से स्नान कर पवित्रमना होकर राग-द्वेष का त्याग करके ध्यान में निश्चल हो गये। अपनी आत्मा को इस नश्वर शरीर से भिन्न समझते हुए सभी भाईयों को क्षमा करके और उनसे क्षमा कराके नियम सल्लेखना ले ली कि यदि मैं इस जल के उपसर्ग से बचूँगा तो पुनः आहार ग्रहण करूँगा अन्यथा चतुराहार का मेरे लिये त्याग है।

ज्योंहि वे माता की वन्दना करके नदी में कूदने के लिये उद्यत हुए कि भीम, अर्जुन आदि सभी भाई एकदम रोने लगे। माता कुन्ती तो बेहोश हो गईं। जब कुन्ती सचेत हुई तो महा करुण-क्रन्दन करने लगीं। अनन्तर वह स्वयं नदी में कूदना चाहती थीं कि इतने में भय रहित होते हुए भीम बोले कि–"हे स्वामिन्! आप स्थिर होकर धर्मपूर्वक कुरूवंश का राज्य करें और मुझे मरने की आज्ञा दें। मैं शीघ्र ही इस नरभक्षी तुंडिका को प्रसन्न करूँगा।" ऐसा कहते

हुए भीम धड़ाम से नदी में कूद पड़े। नदी में गिरे हुए भीम को देखकर तुंडिका मगर का आकार धारण करके सामने दौड़कर आ गई। महाशक्तिशाली भीम उस समय नदी में ही उस मगर से लड़ने लगे। क्रोधित हुए भीम और मगर ने बहुत देर तक पैरों के आघात आदि से युद्ध किया पुनः भीम ने उस मगर को पकड़कर उसके सौ टुकड़े कर दिये तब वह तुंडिका देवी बहुत ही क्रुद्ध होती हुई पुनः भयंकर मगर के रूप में आकर भीम को समूचा ही निगल गई। क्रुद्ध भीम ने अपने हाथ से उसका पेट फाड़कर उसकी पीठ की हड्डी को उखाड़कर उसे खूब मारा। उत्तम कांति के धारक भीम ने उस तुंडिका को विह्वल कर डाला। तब वह बेचारी घबराकर अन्यत्र भाग गई। इस प्रकार भीम स्वयं अपनी भुजाओं से गंगा नदी को पार कर किनारे आ गये।

धर्मचन्द्र–भाई नेमिकुमार! मनुष्य देवों से युद्ध करके उन्हें पछाड़ दें, ऐसी बात तो मैंने आज तक सुनी ही नहीं थी। अरे! इसीलिये तो भीम की शक्ति की प्रशंसा आज भी होती रहती है। अच्छा यह तो बताओ कि पुनः वे युधिष्ठिर आदि कहाँ गये?

नेमिकुमार–भीम के नदी में कूदते ही नौका चल पड़ी किन्तु वे युधिष्ठिर आदि भीम के शोक से अत्यन्त विलाप करते हुए रो रहे थे। रोते-रोते वे चारों भाई और माता कुन्ती नदी के किनारे आकर उतर गये और बार-बार पीछे देखते हुए चल रहे थे मानों वे भीम की प्रतीक्षा ही कर रहे हों। इतने में ही महापराक्रमी महापुण्यशाली भीम आ गये और उन्होंने विनय से माता के चरणों का वन्दन करके भाई युधिष्ठिर को भी प्रणाम किया।

धर्मचन्द्र–उस समय उन लोगों के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा होगा?

नेमिकुमार–अवश्य ही मित्र! उस समय वे सब भीम को गले से लगाकर रोमांचित हो गये और काल के गाल से बचकर तुंडिका को पराजित करके आये हुए भाई की भूरि-भूरि प्रशंसा की। देखो मित्र! यह सभी महिमा पुण्य की ही है अतः सदैव पुण्य का संचय करना चाहिये। अरे! यह आत्मा अनन्त शक्तिमान है और तभी तो यह तुंडिका से भी भयंकर ऐसे मोहराज का पेट चीरकर उसके ऊपर विजय प्राप्त करके पूर्ण सुखी परमात्मा बन सकता है। जैसा कि भीम भी स्वयं आगे कर्मों का नाश कर परमात्मा हो चुके हैं, सिद्ध हो चुके हैं।

धर्मचन्द्र–ऐसे भीम को सिद्ध परमात्मा के रूप में मेरा बारम्बार नमस्कार होवे।

श्रावक वारिषेण

कमल—मित्र विमल! आज हम लोग अष्टमी-चतुर्दशी के दिन कन्दमूल भक्षण और रात्रि भोजन का त्याग भी नहीं कर पाते। पता ही नहीं चलता हे कि कब ये पर्व आये और कब चले गये। भाई! एक समय था जब श्रावक धर्म पालते हुए बड़े-बड़े राजकुल के तिलक राजपुत्र भी यौवन अवस्था में ही धर्म का संचय करते हुए अष्टमी-चतुर्दशी को उपवास करके वन में प्रतिमायोग धारण किया करते थे।

विमल—मित्र! इस विषय में कोई घटना मुझे सुनाइये।

कमल—भाई! सुनो, तीन लोक में यशस्वी, अतिशय सन्तुष्ट, जैनधर्म के आराधक और नीतिपूर्वक प्रजा के पालक महाराजा श्रेणिक राजगृही के अनुशासक थे। उनके पुत्र कुमार वारिषेण अतिशय बुद्धिमान, मनोहर, जैनधर्म में अतीव आसक्त एवं व्रतरूपी भूषणों से भूषित थे। कदाचित् इन्होंने चतुर्दशी पर्व के दिन उपवास किया और रात्रि में किसी वन में जाकर कायोत्सर्ग धारण कर ध्यान करने लगे।

इधर किसी वेश्या ने सेठ श्रीकीर्ति की सेठानी के गले में रत्नों का हार देखा और उस दिव्य हार के बिना अपना जीवन व्यर्थ समझ, उदास हो शयनागार में जाकर सो गई। एक विद्युच्चोर, जो कि उसके यहाँ था, उसने आकर अपनी प्यारी वेश्या की जब यह स्थिति देखी तो उसकी नाराजगी का कारण पूछने लगा। वेश्या ने स्पष्ट कह दिया कि मैं उस हार के बिना तुम्हें अपना प्रेमी स्वीकार नहीं कर सकती।

चोर वेश्या को प्रसन्न करने हेतु उसी समय चोरी के लिये निकला और अपनी चतुराई से उस हार को चुरा ही लाया। जब सड़क से वह चोर गुजर रहा था तब उस हार की चमक विशेष से कोतवालों ने उसका पीछा किया। चोर को और कोई रास्ता न सूझा तो वह भागता-भागता शमशान भूमि में घुस गया। वहाँ पर भी उसे कोई मार्ग नहीं दिख रहा था कि इतने में उसे वारिषेण कुमार ध्यान में लीन नजर आये। अपनी रक्षा के लिये उसने शीघ्र ही वह हार कुमार वारिषेण के गले में डाल दिया और आप एक ओर छिप गया।

हार की चमक से कोतवाल भागता-भागता कुमार के पास ही आ गया और कुमार को अपने गले में हार डाले हुए देखकर उसके आश्चर्य का ठिकाना

नहीं रहा। वह शीघ्र ही राजा के पास पहुँचा और सर्व इतिवृत्त सुना दिया। उसने कहा—"महाराज! यदि आपका पुत्र ही चोरी करता है तो चोरी करने से दूसरों को कैसे रोका जा सकता है? राजकुमार का चोरी करना उसी प्रकार है जिस प्रकार कि 'बाड़ द्वारा खेती का खाया जाना'। कृपानाथ! जब रक्षक ही भक्षक बन जायेगा तब प्रजा की क्या स्थिति होगी?"

कोतवाल की बात सुनकर महाराज श्रेणिक शमशान भूमि की ओर गमन करते हैं और उधर कुमार वारिषेण के व्रत के प्रभाव से गले में पड़ा हुआ वह रत्नहार फूल की माला बन जाता है। ज्यों ही महाराज यह दैवी चमत्कार देखते हैं तो उसी क्षण कोतवाल की निन्दा करके स्वयं कुमार के पास पहुँचकर क्षमा कराना चाहते हैं। विद्युच्चोर भी यह सब दृश्य देख रहा था। उससे ये बातें नहीं देखी गईं। वह शीघ्र ही महाराजा श्रेणिक के सम्मुख आया तथा महाराज से अभयदान की प्रार्थना करके सारी बातें सत्य-सत्य कह सुनायीं।

महाराज ने कुमार वारिषेण की निर्दोषता को साक्षात् करके और विद्युच्चोर के मुख से यथार्थ बात ज्ञात करके कुमार से निवेदन किया—"प्रिय पुत्र! प्रमाद से हुए हम लोगों के अपराध क्षमा करो और अपने घर चलो।"

कुमार ने कहा—"पूज्य पिताजी! इस उपसर्ग के आते ही मैंने ऐसा नियम कर लिया था कि मैं अब पाणिपात्र में भोजन करूँगा। अतः अब मैं घर नहीं जाऊँगा। मुझे आप जैनेश्वरी दीक्षा लेने की आज्ञा प्रदान कीजिये।"

उस समय महाराज श्रेणिक आदि ने बहुत कुछ उपायों से कुमार को रोकना चाहा किन्तु जिस प्रकार से मत्त हाथी आलान स्तम्भ को तोड़कर निकल जाता है उसी प्रकार से महामना वारिषेण पिता आदि के आलान स्तम्भ को तोड़कर वन में चले गये।

वे सीधे सूर्यदेव नामक मुनिराज के पास पहुँचे और केशों का लोंच करके दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली एवं अष्ट अंग सहित सम्यग्दर्शन के धारक बड़े-बड़े देवों द्वारा पूजित वारिषेण मुनिराज तेरह प्रकार के चारित्र का पालन करने लगे। उन्होंने पुष्पडाल को मुनि बनाकर अन्त में उसका स्थितिकरण किया था जिसकी कथा भी प्रसिद्ध ही है। वे महामुनि अपने शुभाचार और उपदेश से अनेक भव्य जीवों को सन्मार्ग में लगाते रहे। बहुत काल तक इस पृथ्वीतल पर विचरण करते हुए अनेक जीवों को सम्बोधा। आयु के अन्त में चारों

आराधनाओं की आराधना करके समाधिपूर्वक मरण करके स्वर्ग में महान ऋद्धि के धारक देव हुए हैं। धन्य हैं ऐसे महामुनि वारिषेण, जिन्होंने भरी यौवनावस्था में राज्य के सुख, माता-पिता का स्नेह तथा पत्नियों के प्रेम को छोड़कर अपनी आत्म-सिद्धि के लिये निर्ग्रंथ व्रत स्वीकार किया और स्थितिकरण आदि अंगों से विशिष्ट होते हुए अपने जीवन को महान बनाकर मोक्ष को अपने निकट कर लिया है।

विमल—आज ऐसे-ऐसे महापुरुषों के चरित्र को पढ़ने की आवश्यकता है कि जिससे अपने जीवन में चारित्र को स्थान मिले और आत्मा की विशुद्धि का अवसर प्राप्त हो।

जिनेन्द्र प्रतिमा के दर्शन का महत्व

जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा के दर्शन की भावना करते ही दो उपवास का फल मिल जाता है। चलने की अभिलाषा करते ही तीन उपवास का फल, चलने का आरंभ करते ही चार उपवास का फल, चलते-चलते पाँच उपवास का फल, कुछ दूर चले आने पर बारह उपवास का फल, बीच मार्ग में पहुँच जाने पर पन्द्रह उपवास का फल, सुमेरु की चोटी का दर्शन करते ही एक मास के उपवास का फल, मंदिर में प्रवेश करने पर छह मास के उपवास का फल, मंदिर के द्वार में प्रवेश करने पर एक वर्ष के उपवास का फल, तीन प्रदक्षिणा देने पर सौ वर्ष के उपवास का फल, जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा के दर्शन करने से हजार वर्ष के उपवास का फल मिलता है। पुनः जिनप्रतिमा के सन्मुख खड़े होकर भावपूर्वक स्तुति करने से अनंत उपवास का फल प्राप्त होता है। यथार्थ में जिनेन्द्र भगवान की भक्ति से बढ़कर और कोई उत्तम पुण्य नहीं है।

—पद्मपुराण, पर्व 32, पृ. 99

अशुभ भावों का फल स्वयं अशुभ है

विनोद—भाई प्रमोद! आज मुझे साधुओं के प्रति बहुत ही अनास्था हो रही है। मन्दिर में संघ ठहरा हुआ है, मैंने आज उनके दर्शन भी नहीं किये।

प्रमोद—क्यों बन्धु! क्या कारण हुआ, कहो तो सही।

विनोद—मेरे पिताजी से उनके मित्र मिलने आये थे। वे बहुत बड़े सेठजी हैं। समाज में एक अच्छे प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। अभी वे बीमार हो गये थे। पिताजी उनका कुशल क्षेम पूछ रहे थे। मैं भी वहीं पास में बैठा हुआ था। उन्होंने बताया कि मैंने छह महीने तक किन्हीं साधुओं की खूब ही जी-भर के निंदा की, उनके प्रति अनेक असत्य आरोप गढ़ डाले। किसी दूसरे साधु ने कहा कि देखो! यदि तुम व्यर्थ ही धर्म या धर्मात्मा की निन्दा करोगे तो भइया! उसका फल कडुवा ही मिलेगा कि मैं सचमुच में बीमार पड़ गया। ये साधु हमारा अनिष्ट कर रहे हैं अतः इन्हें नमस्कार नहीं करना चाहिये।

प्रमोद—भाई! तुमने गलत समझ लिया है। जैन साधु किसी का अनिष्ट नहीं करते हैं और न किसी का अशुभ ही सोचते हैं किन्तु उनकी निंदा, अवहेलना आदि से जो स्वयं कर्म बन्ध कर लेते हैं उसका फल उन्हें इस जन्म में या जन्मान्तर में भोगना ही पड़ता है। उसमें साधुओं को दोष देना व्यर्थ है। इससे तो और भी अधिक कर्म बँधेगा। इस विषय में मैं तुम्हें एक ऐतिहासिक वृत्त सुनाता हूँ।

विनोद—हाँ मित्र! अवश्य सुनाइये।

प्रमोद—मगध देश में शालिग्राम नाम का एक गाँव था। किसी समय वहाँ पर संघ सहित नंदिवर्धन मुनिराज आये और उद्यान में ठहर गये। संघ आगमन के समाचार को पाते ही श्रावकजन दर्शन और पूजन के लिये उमड़ पड़े। अग्निभूति और वायुभूति नाम के दो भाई थे। वे ब्राह्मण थे। जातिमद और ज्ञान के मद से उन्मत्त हो रहे थे। वे भी मुनियों से वाद-विवाद करने के लिये वहाँ पर आ गये।

उन्हें सभा में देखकर एक सात्यकि नामक मुनि ने कहा कि—"हे विप्रों! आओ और गुरूदेव से कुछ पूछो।" तभी एक ब्राह्मण ने कहा कि ये दोनों इन मुनियों को वाद में जीतने के लिये आये हैं पुनः दूर ही क्यों बैठे हैं? यह सुनकर

वे दोनों भाई गर्व से उठे और मुनिराज के पास आ गये और बोले–"तू जानता है बोल।" तब आचार्य नंदिवर्धन बोलते हैं कि–"आप दोनों कहाँ से आ रहे हैं?" दोनों भाई गर्व से बोले कि–"क्या तुझे यह भी ज्ञात नहीं है कि हम दोनों शालिग्राम से आये हैं।"

तब आचार्य ने कहा–"आप इस ग्राम से आये हैं सो तो मैं जानता हूँ किन्तु मेरे कहने का यह अभिप्राय है कि इस अनादि संसार में घूमते हुए आप इस समय किस पर्याय से आये हैं।"

तब वे बोले–"इसे क्या और भी कोई जानता है या मैं ही जानूँ?"

आचार्य ने कहा–"अच्छा विप्रों! सुनो, मैं इस बात को बताता हूँ।

इस ग्राम की सीमा के पास वन में दो श्रृगाल साथ-साथ रहते थे। इसी गाँव में प्राभरक नाम का एक किसान था। वह एक दिन अपने उपकरण खेत पर ही छोड़कर आ गया। उसी रात को खूब जोरों से वर्षा शुरू हो गई जो कि सात दिन तक चलती रही। बेचारे भूख से पीड़ित हुए वे श्रृगाल वर्षा के रुक जाने पर बाहर निकले और वर्षा से भीगे कीचड़ से सने हुए उन उपकरणों को खा लिया। खाते ही उनके उदर में भयंकर पीड़ा उठी। वर्षा और वायु से पीड़ित दोनों श्रृगाल अकाम निर्जरा कर मर गये और यहीं ग्राम में सोमदेव ब्राह्मण के पुत्र हो गये। अनन्तर वह प्राभरक किसान अपने उपकरण ढूँढता हुआ खेत में पहुँचा। वहाँ उसने मरे हुए दोनों श्रृगालों को देखा। उन्हें घर लाकर उनकी खाल की मशकें बनाईं। वह किसान भी कुछ ही दिनों में मर गया जो कि अपने ही पुत्र के पुत्र हो गया। उस पुत्र को जातिस्मरण हो गया है कि "मैं अपने पूर्व भव के पुत्र-पुत्रवधु को पिता और माता के रूप में कैसे बोलूँ?" यह सोचकर वह गूँगा बनकर रह रहा है। यदि तुम्हें विश्वास न हो तो वह किसान मेरी सभा में बैठा हुआ है, उससे ही पूछ लो।

सब लोग उस प्राभरक किसान के पोते की तरफ देखने लगे कि वह भी इन वचनों को सुनकर मुनिराज के निकट आ गया। मुनिराज ने कहा–"हे वत्स! इस संसार की ऐसी विचित्र दशा है कि वहाँ पर माता भी मरकर पत्नी हो जाती है और पत्नी भी माता बन जाती है, इत्यादि। अतः तुम विषाद छोड़कर मौन तोड़ो और बोलो।"

मुनिराज के वचन सुनते ही वह हर्ष से रोमांचित हो उठा। उसने तत्क्षण ही भक्ति में विभोर हो मुनि की तीन प्रदक्षिणाएँ दीं और मस्तक के बल उनके

चरणों में गिर पड़ा। अनन्तर आश्चर्यचकित हो जोर से बोल पड़ा–"हे भगवन्! आप सर्वज्ञ हैं। यहाँ बैठे-बैठे ही आप लोक की समस्त स्थिति को देख रहे हैं। हे नाथ! मैं संसार समुद्र में डूब रहा हूँ। मुझे अपने हाथ का सहारा देकर गृह-कूप से निकालिये। इत्यादि रूप से अनुनय-विनय करते हुए उसने अपने माता-पिता के रोते हुए भी मुनि के पास व्रतों को ग्रहण कर लिया। इस घटना से वहाँ पर उपस्थित सभी लोग बहुत ही प्रभावित हुए और पुनः बहुत से लोगों ने उसके घर पर श्रृगालों की खाल से बनीं दोनों मशकें भी देखीं, जिससे सब ओर हलचल हो गई तथा आश्चर्य छा गया।

उस समय तमाम लोगों ने ब्राह्मणों की हँसी की कि ये पशुओं का माँस खाने वाले श्रृगाल ब्राह्मण हुए हैं, जो कि 'सब कुछ ब्रह्म ही है' ऐसा ब्रह्माद्वैतवाद ग्रहण कर और हिंसा में धर्म मानकर मूढ़ जनता को भ्रम में डाल रहे हैं। अब यहाँ परम अहिंसक मुनियों से वाद-विवाद करने के लिए उद्यत हुए हैं। इस प्रकार से साधुओं की स्तुति और अपनी निन्दा सुनकर वे दोनों अत्यन्त लज्जित और दुःखी हुए।

अनन्तर रात्रि में वे नंगी तलवार लेकर अपने अपमान का बदला चुकाने के लिये घर से बाहर उसी उद्यान की तरफ आचार्य नंदिवर्धन की खोज करते हुए निकले। आचार्य देव सायं को अपने संघ को वहाँ पर छोड़कर आप एक निर्जन, भयंकर श्मशान भूमि में आकर ध्यानस्थ खड़े हो गये थे। ये ब्राह्मण उन्हें ढूँढते हुए उसी श्मशान भूमि में आ पहुँचे और उन्हें देखते ही वे पापी क्रोध में भभककर बोले–"अरे पापी निर्लज्ज नंगे! अब सभी भक्त आकर तेरी रक्षा करें। अरे मूढ़! देखता हूँ तू कहाँ जायेगा?। हम लोग पृथ्वी के देवता ब्राह्मण के अवतार, उनको तूने 'ये श्रृगाल थे' ऐसा कैसे कहा?" इत्यादि रूप से क्रोध से बड़बड़ाते हुए उन दोनों ने एक साथ ही उन्हें मारने के लिये तलवार ऊपर उठाई कि तत्क्षण ही यक्षदेव ने उन्हें वैसे के वैसे ही कीलित कर दिया। वे दोनों दुष्टात्मा ज्यों-के-त्यों खड़े रह गये।

प्रातःकाल सूर्योदय होते ही भक्तों की भीड़ उमड़ पड़ी। इस दृश्य को देखकर सभी लोग इन दुष्टों को धिक्कारते हुए महामुनि की पूजा-स्तुति करने लगे। चतुर्विध संघ भी अपने गुरूदेव के चरण सानिध्य में आ गया। इन अग्निभूति-वायुभूति के माता-पिता आदि कुटम्बीजन भी वहाँ आ पहुँचे। वह

सोमदेव ब्राह्मण अपनी पत्नी अग्निला सहित उन मुनिराज को प्रसन्न करने लगा, उनके पैर दबाने लगा, बार-बार उन्हें प्रणाम करने लगा, मीठे वचन कहकर उनकी सेवा करने लगा। उन दोनों ने कहा कि हे देव! ये मेरे दुष्ट पुत्र जीवित रहें। हे नाथ! क्रोध छोड़िये, हम सब परिवार आपके आज्ञाकारी हैं। उत्तर में मुनिनाथ ने कहा कि–"हे ब्राह्मण! मुनियों को क्रोध कहाँ है? जो तुम इस तरह कह रहे हो? हम तो सबके ऊपर दया सहित हैं। हमारे लिये तो शत्रु मित्र एक समान हैं।"

अनन्तर यक्ष प्रत्यक्ष में प्रगट होकर बोला–"अरे! क्या यह कार्य इन गुरू महाराज का है? तू ऐसा सबके बीच में क्या बक रहा है? जो पापी साधुओं के प्रति घृणा करते हैं, वे शीघ्र ही अनर्थ को प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार दर्पण के सामने मनुष्य अपना जैसा मुख करता है, वैसा ही देखता है। उसी प्रकार साधु को देखकर सामने जाना, खड़े होना आदि क्रियाओं को करना आदि जैसा भाव करता है, वैसा ही फल पाता है।

जो मुनि की हँसी करता है, वह उसके बदले रोना प्राप्त करता है। जो उनके प्रति कठोर शब्द कहता है, वह उसके बदले कलह प्राप्त करता है। जो मुनि को मारता है वह उसके बदले मरण प्राप्त करता है। जो मुनि से विद्वेष करता है, वह उसके बदले पाप प्राप्त करता है। इस प्रकार साधु के प्रति निन्दनीय कार्य से उसके बदले वैसे ही फल प्राप्त हो जाते हैं।

हे विप्र! ये तेरे पुत्र अपने ही द्वारा संचित पाप कर्मों से मेरे द्वारा कीलित किये गये हैं, साधु महाराज के द्वारा नहीं। ये साधु की हिंसा में उद्यत हुए दुष्ट मृत्यु को प्राप्त हों, इसमें क्या हानि है?"[1]

यक्ष के कठोर शब्द सुनकर ब्राह्मण गिड़गिड़ाने लगा और पुत्रों की रक्षा हेतु अपनी छाती पीट-पीटकर रोने लगा।

अनन्तर मुनिराज ने कहा कि हे यक्ष! तुमने जिनशासन में वात्सल्य प्रगट किया है सो ठीक है, अब इन दोनों को क्षमा कर दो। चूँकि मेरे निमित्त से इनका वध उचित नहीं है। "जैसी आपकी आज्ञा हो वैसा ही करता हूँ" ऐसा कहकर यक्ष ने दोनों को छोड़ दिया। वे दोनों अग्निभूति और वायुभूति भक्तिपूर्वक गुरूदेव के पादमूल में पहुँचे, प्रदक्षिणा देकर उनके चरणों में

1. पद्मपुराण पर्व 109।

बारम्बार नमस्कार करके कृतकर्मों की क्षमायाचना करते हुए दीक्षा की याचना की। गुरूदेव ने भी उन्हें भद्र परिणामी हुआ देखकर तथा मुनिदीक्षा की चर्या उनके लिए कठिन समझकर उन्हें सम्यग्दर्शन सहित पाँच अणुव्रत दिये। वे दोनों भी गुरू की आज्ञानुसार गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए विवेकी श्रावक बन गये।"

विनोद–ओहो! इस कथा से मुझे बहुत अच्छा बोध हुआ है। अब मैं तो यही प्रतिज्ञा करता हूँ कि जीवन में कभी भी न साधु की निन्दा करूँगा और न ही उनके प्रति गलत विचार भी मन में लाऊँगा जिससे मैं सदा इस पाप से बचा रहूँ।

प्रमोद–बहुत अच्छा है मित्र! अपने को तो यथाशक्ति गुरूओं की भक्ति, उपासना और सेवा ही करना उचित है।

णमोकार मंत्र

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं, णलो लोएसव्वसाहूणं।।

अर्हंतों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो, लोक में सर्व साधुओं को नमस्कार हो।

इस मंत्र में अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँच परमेष्ठियों को नमस्कार किया है।

क्या तिर्यंच आयु शुभ है?

सुदर्शन–गुरूजी! तिर्यंच आयु शुभ है, इस विषय में मुझे कुछ उदाहरण द्वारा आप समझाइये।

गुरूजी–हाँ सुदर्शन! सुनो, मैं तुम्हें एक पौराणिक घटना सुनाता हूँ–

मिथिला नगर के राजा का नाम शुभ था और उनकी मनोरमा रानी से एक पुत्र हुआ था जिसका नाम देवरति था। एक दिन देवगुरू नाम के अवधिज्ञानी मुनिराज अपने संघ सहित वहाँ मिथिला नगरी में आये। राजा शुभ ने बड़ी भक्ति से संघ के दर्शन किये और धर्मोपदेश सुना।

अनन्तर उसने मुनिराज से प्रश्न किया कि–"हे भगवन्! कृपाकर यह बतलाइये कि मेरा जन्म आगे कहाँ होगा?" उत्तर में मुनिराज ने कहा कि–"हे राजन्! सुनिये–पाप-कर्म के उदय से आप अपने ही विष्टागृह में कीड़ा होवोगे। अशुभ फल के अपशकुन रूप शहर में प्रवेश करते समय तुम्हारे मुँह में विष्टा प्रविष्ट होगी, तुम्हारा छत्र भंग होगा और आज से सातवें दिन बिजली गिरने से तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी।" सत्यमहाव्रती, अवधिज्ञानी मुनिराज के मुख से अपना अशुभ भविष्य सुनकर राजा शुभ बहुत ही दुःखी हुए। एक दिन जब वे बाहर से लौटकर शहर में प्रवेश करने लगे तब घोड़े के पाँवों की ठोकर से उड़ी हुई थोड़ी सी विष्टा का अंश उनके मुख में आ गिरा और यहाँ से वह थोड़ा ही आगे बढ़े होंगे कि जोर की आँधी ने उनके छत्र को तोड़ डाला। सच है पाप-कर्मों के उदय से क्या नहीं होता है!

तब राजा ने अपने पुत्र देवरति को बुलाकर कहा कि–"हे बेटा, मेरे कोई ऐसा पाप-कर्मों का उदय आने वाला है कि मैं मर कर अपने विष्टागृह में पाँच रंग वाला कीड़ा होऊँगा, सो तुम उस समय मुझे मार डालना। वह इसलिये कि फिर मैं कोई अच्छी गति प्राप्त कर सकूँ। यद्यपि छत्र भंगादि अपशकुन देखकर उसने मुनिराज के वचनों पर विश्वास भी किया था फिर भी कुछ सन्देह हो जाने से उसने एक लोहे की बड़ी-सी सन्दूक मँगवाई और चूँकि जल में बिजली का असर नहीं हो सकेगा अतः उसमें बैठकर गंगा के गहरे जल में उसे रख आने की नौकरों को आज्ञा दी। उसे यह आशा थी कि मैं इस उपाय से अपनी रक्षा कर लूँगा किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञानियों की कोई भी बात असत्य नहीं हो सकती।

जो भी हो, सातवाँ दिन आया। आकाश में बिजलियाँ चमकने लगीं। इसी समय दुर्भाग्य से एक बड़े मच्छ ने राजा की सन्दूक को एक ऐसा जोर का उथेला दिया कि सन्दूक जल के बाहर दो हाथ ऊँचे तक उछल आई। सन्दूक का बाहर आना था कि इतने में ही बड़े जोर से कड़ककर बिजली उसी सन्दूक पर आ गिरी। खेद है कि राजा उसी समय मरकर बँधी हुई तिर्यंचायु के अनुरूप अपने घर के विष्टागृह में कीड़ा हो गया।

सुदर्शन–हाय! हाय! एक राजा और इस प्रकार से ऐसी निकृष्ट योनि में पहुँच गया। सच है कर्मों की गति बड़ी ही विचित्र है। फिर क्या हुआ? उसके बेटे ने तो उसी के कहे अनुसार उसे किसी अच्छी गति में पहुँचा दिया होगा?

गुरूजी–नहीं, नहीं, सुदर्शन! आगे सुनो, क्या होता है। पिता के कहे अनुसार जब देवरति राजकुमार ने वहाँ विष्टागृह में आकर उस पंचरंगे कीड़े को देखा तो उसको मार डालना चाहा। पर जैसे ही देवरति ने उसे मारने के लिए अपना हथियार उठाया, वह कीड़ा उसी विष्टा के ढेर में घुस गया। देवरति को इससे बहुत ही आश्चर्य हुआ। उसने जिन-जिन लोगों को यह घटना सुनाई, उन सभी को संसार की इस भयंकर लीला को सुनकर बहुत ही भय उत्पन्न हुआ। तब उन लोगों ने संसार के बन्धन से छूटने के लिये जैनधर्म का आश्रय ग्रहण कर लिया। कितने ही लोगों ने तो सब माया-ममता छोड़कर जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली और कितने ही लोगों ने अभ्यास बढ़ाने के लिये श्रावक के व्रत ले लिये।

देवरति को बहुत ही आश्चर्य हो रहा था। इसलिये एक दिन उसने अवधिज्ञानी मुनिराज से इस घटना का प्रश्न किया कि–"हे भगवन्! क्या कारण है कि पहले तो मेरे पिताजी ने मुझसे कहा कि तुम मुझे इस निकृष्ट योनि में पहुँचते ही मार देना और अब क्या कारण है कि जब मैं मारने जाता हूँ तब वह कीड़ा अन्दर घुस जाता है।" तब मुनिराज ने कहा कि–"हे वत्स! यह जीव तिर्यंच योनि जैसी निकृष्ट अवस्था में जाना नहीं चाहता है। तिर्यंच होने के नाम से ही काँप उठता है किन्तु जब वह वहाँ चला जाता है तब चाहे वह कितनी ही बुरी से बुरी जगह क्यों न हो, वह उसी में अपने को सुखी मानने लगता है और वहाँ से मरना पसन्द नहीं करता। चूँकि सभी जीवों को अपने प्राण प्यारे होते हैं, सभी जीव मरने से अत्यधिक डरते हैं। यही कारण है कि

तुम्हारे पिता जब यहाँ थे तब वे न मरना ही चाहते थे और न ही ऐसी तिर्यंच योनि में जाना ही चाहते थे किन्तु अब जब वहाँ पहुँच गये हैं, तो वहाँ भी जीवन का मोह होने से वे मरना नहीं चाहते हैं।'' मुनिराज के मुख से इस प्रकार की संसार स्थिति को सुनकर राजकुमार देवरति भोगों से विरक्त हो गये और तत्क्षण ही जैनेश्वरी दीक्षा ले ली।

देखिये सुदर्शन कुमार! इसीलिये यह तिर्यंच योनि तो अशुभ है, अप्रशस्त प्रकृतियों में ली गई और तिर्यंचायु शुभ है वह पुण्य प्रकृतियों में मानी गई है।

सुदर्शन–ठीक है गुरूजी! अब मैं अच्छी तरह से इस विषय में समझ गया हूँ और विशेष समझने के लिये अब मैं गोम्मटसार कर्मकाण्ड का अध्ययन अवश्य करूँगा।

दिगम्बराचार्य गुरु सबसे बड़े वैद्य हैं

जैसे वैद्य, रोगी, औषधि और परिचारक के संयोग से आरोग्य होता है वैसे ही गुरु, शिष्य, रत्नत्रय और साधन के संयोग से मोक्ष होता है।

आचार्य वैद्य हैं, शिष्य रोगी है, औषधि चर्या है। इन्हें तथा क्षेत्र, बल, काल और पुरुष को जानकर धीरे-धीरे इनमें दृढ़ करे।

आचार्य देव वैद्य हैं, शिष्य रोगी हैं, औषधि निर्दोष भिक्षा चर्या है, शीत, उष्ण आदि सहित प्रदेश क्षेत्र हैं, शरीर की सामर्थ्य आदि बल है, वर्षा आदि काल हैं एवं जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट भेद रूप पुरुष होते हैं। इन सभी को जानकर आकुलता के बिना आचार्य शिष्य को चर्यारूपी औषधि का प्रयोग कराये ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वैद्य रोगी को आरोग्य हेतु औषधि प्रयोग कराकर स्वस्थ कर देता है।

–मूलाचार-श्री वट्टकेराचार्य

मिथ्या तप का दुष्परिणाम

विनोद–भाई प्रमोद! तापसी लोग पत्नी के साथ रहकर भी अपने को साधु कैसे कहते हैं? भला यह प्रथा कैसे चली?

प्रमोद–हाँ, मित्र सुनो, मैं तुम्हें सुनाता हूँ। उत्तरपुराण में इसका स्पष्टीकरण है। एक मूढ़ तापसी ने मूर्खतावश देवों के द्वारा की गयी परीक्षा में असफल होकर ही यह प्रथा चलाई है। सुभौम चक्रवर्ती के समय की यह घटना है–

एक दृढ़ग्राही नाम के राजा थे। हरिशर्मा नाम के ब्राह्मण के साथ उनकी घनिष्ठ मित्रता थी। किसी समय राजा को वैराग्य हो गया अतः उसने दिगम्बर मुनिराज के पास में जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। यह देखकर हरिशर्मा भी भोगों से विरक्त हुआ और जाति के संस्कार से वह तापसी हो गया। राजा ने जिनेन्द्र देव प्रतिपादित तपश्चरण के प्रभाव से अन्त में समाधिमरण करके सौधर्म स्वर्ग में देवपद प्राप्त कर लिया और हरिशर्मा ने अज्ञात तप करके अन्त में शरीर छोड़कर ज्योतिषी देवों में जन्म धारण कर लिया।

पूर्वभव की मित्रता के संस्कार से राजा के जीव ने अपने अवधिज्ञान से यह जानना चाहा कि मेरा मित्र कहाँ जन्मा है? जब उसने उसे ज्योतिर्लोक में देव हुआ जाना, तब वह अपने स्वर्ग से वहाँ आकर अपना परिचय देते हुए बोला–''मित्र! देखो सम्यक्त्व के प्रभाव से मैं इस वैमानिक देवों के कुल में जन्मा हूँ और मिथ्यात्व के निमित्त से तुम ज्योतिषी देवों के यहाँ जन्मे हो। इसलिये हे बन्धु! जो मोक्ष को प्राप्त कराने में मूल कारण है, ऐसे सम्यग्दर्शन को तुम ग्रहण करो।''

मित्र के ये वचन सुनकर ज्योतिषी देव संशय को प्राप्त होता हुआ पूछने लगा–''मित्र! तापसियों का पद अशुद्ध क्यों है?''

वैमानिकदेव ने कहा–''तुम पृथ्वी तल पर चलो, मैं तुम्हें सब दिखाता हूँ।''

इसके अनन्तर वे दोनों मध्य लोक में आकर आपस में कुछ सलाह कर एक तापस के निकट पहुँचे। विक्रिया से चिड़ा-चिड़िया का रूप बनाया और

उस तापसी की बड़ी-बड़ी दाढ़ी में रहने लगे। वहाँ कुछ समय रहने के बाद युक्ति में चतुर सम्यग्दृष्टि देव ने अपनी भार्या चिड़िया से कहा–"प्रिये! मैं पास के इस वन से कुछ ही क्षण बाद वापस आ जाऊँगा अतः तुम चिन्ता नहीं करना और यहीं इसी स्थान पर रहते हुए मेरी प्रतीक्षा करना।"

तब चिड़िया ने कहा–"आपका क्या विश्वास! यदि वापस नहीं आये तो।"

चिड़ा ने कहा–"तुम जो कहो, सो मैं शपथ कर सकता हूँ। मैं वापस अवश्य ही आऊँगा। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पाँच पाप हैं और इनमें से तुम जो कहो, मैं उसकी शपथ ले सकता हूँ। मतलब यदि मैं वापस नहीं आऊँगा तो मुझे हिंसा करने का जो पाप होता है सो लगे।"

अनेक प्रकार से वह चिड़ा शपथ लेने को तैयार था किन्तु चिड़िया राजी नहीं हो रही थी। तब चिड़ा ने कहा–"अच्छा, तुम्हीं कहो कि क्या शपथ करके जाऊँ?"

तब चिड़िया ने कहा–"आप यह शपथ कीजिये कि यदि मैं वापस न आऊँ तो जो गति इस तापसी की होगी, सो मेरी हो। हे प्रियतम! यदि तुम यह शपथ करके जाना चाहो तो मैं जाने दूँगी, अन्यथा नहीं।"

चिड़िया की यह बात सुनकर चिड़ा बोला–"प्रिये! तुम इस शपथ के सिवाय और चाहे जो शपथ करा सकती हो किन्तु यह शपथ तो मैं किसी भी हालत में लेने को तैयार नहीं हूँ।"

चिड़ा-चिड़िया की ऐसी वार्तालाप सुनकर वह तापसी क्रोध से भड़क उठा। उसका चेहरा लाल हो गया और नेत्र घूमने लगे। उसने क्रूरतावश दोनों को मारने के लिये मजबूती से अपनी दाढ़ी पकड़ ली और बोला–"अरे दुष्टों! मेरे इतने कठोर तपश्चरण से मेरी जो भावी गति होने वाली है, उसे तुम क्यों नहीं पसन्द कर रहे हो?"

यह सुनकर चिड़ा बोला–"महात्मा जी! आप क्रोध न करें अन्यथा आपकी सज्जनता नष्ट हो जायेगी। देखो ना, थोड़ी-सी जामिन की छाँछ से ही दूध नष्ट हो जाता है। यद्यपि आपका तपश्चरण कठोर है, फिर भी आपकी दुर्गति का कारण क्या है? सो आप सुनें–

आपने जो कुमार काल से ब्रह्मचर्य व्रत पालन किया है सो सन्तान के घात के लिये ही है और सन्तान का घात करने वाले पुरुष की नरक गति के सिवाय अन्य दूसरी गति नहीं है। देखो! वेद में लिखा हुआ है कि– "अपुत्रस्यगतिर्नास्ति" पुत्र रहित मनुष्य की कोई गति नहीं होती है। बाबाजी! क्या आपने यह वेद-वाक्य नहीं सुना है? यदि सुना है तो फिर बिना विचारे क्यों इस तरह मूढ़ होकर क्लेश उठा रहे हो?"

चिड़ा की ऐसी युक्तिपूर्ण बातें सुनकर वह मन्दबुद्धि तापसी अपने तप से विचलित हो गया और उसने स्त्री परिग्रह स्वीकार करने का निश्चय कर लिया। वह चिड़ा-चिड़िया को अपना परमोपकारक मानता हुआ उसी क्षण वहाँ से चल पड़ा और कान्यकुब्ज नगर के राजा पारत के राजदरबार में आ गया। महाराजा पारत इस जमदग्नि तापसी के मामा थे। उसे अकस्मात् दरबार में आया देखकर उन्होंने उसके सामने दो तरह के आसन रखवाये। वह अज्ञानी तापसी अपने अज्ञान को ही प्रगट करता हुआ वीतरागी काष्ठासन को छोड़कर सरागी आसन पर बैठ गया पुनः वह अपने आने का वृत्तान्त राजा को बतलाते हुए बोला–"राजन्! मेरे परम सौभाग्य से किसी देवता ने प्रगट होकर मुझे सही मार्ग दिखलाया है कि तुम पहले विवाह करके पुत्र उत्पन्न करो पुनः तपश्चरण करो अन्यथा नरक जाना पड़ेगा। सो मैं आपके यहाँ आपकी पुत्री की याचना करने के लिये आया हूँ।

उस तापस की इस निर्लज्जतापूर्ण बात को सुनकर महाराज अवाक् रह गये पुनः मन-ही-मन उसके अज्ञान तप की निंदा करते हुए बोले–"जमदग्नि मुने! मेरे सौ पुत्रियाँ हैं, उनमें से तुम्हें जो वरण करना चाहे, उसके साथ विवाह कर लो।"

राजा ने ऐसा कहते हुए समझा था कि न कोई कन्या इस अर्धमृतकवत् जर्जरित शरीर वाले वृद्ध को चाहेगी और न यह यहाँ से कन्या ले जा सकेगा किन्तु होनहार जो होती है सो होकर ही रहती है।

उसके सामने सभी लड़कियाँ बुलाई गयीं और राजा की आज्ञा के अनुसार कंचुकी ने कहा–"पुत्रियों! ये तापसी तुम्हारे पिता के पास तुममें से किसी कन्या की याचना के लिये यहाँ आये हैं अतः तुममें से कोई भी कन्या इसे स्वीकार करो।"

इतना सुनते ही सभी कन्यायें उस तापसी को देखकर डर गयीं और एक साथ ही सब वहाँ से भाग गयीं। यह देखकर वह तापसी बहुत ही दुःखी हुआ और पुनः पुनः राजा से अनुनय-विनय करने लगा। तब राजा ने कहा–"ऋषे! तुम जिस कन्या को राजी कर सको, उसे ले जा सकते हो।"

इतना सुनकर वह दरबार से बाहर निकला। कन्याओं के क्रीड़ा करने के बगीचे में पहुँचा। वहाँ पर एक छोटी-सी राजकन्या धूलि में खेल रही थी। उसके निकट जाकर और एक केला उसे दिखाकर उससे बोला–"यदि तू मुझे चाहेगी तो यह केला मैं तुझे दूँगा।" बेचारी अबोध बालिका कुछ भी नहीं समझती थी, अतः वह बोली–"हाँ, मैं तुम्हें चाहूँगी।"

बस फिर क्या था, उस मूढ़ ने उसे केला दिया और झट से उसे गोद में लेकर राजा के निकट पहुँचकर बोला–"राजन्! यह लड़की मुझे चाहती है।"

महाराज ने अपना माथा ठोक लिया, बेचारे कर ही क्या सकते थे। वह जमदग्नि उस लड़की को लेकर अपने वन की ओर चला जा रहा था और देखने वाले लोग उसकी निंदा कर रहे थे। कुछ दिनों तक उसने उस बालिका को पाल-पोषकर बड़ा किया पुनः युवती होने पर उसके साथ विवाह करके वन में ही आश्रम बनाकर रहने लग गया।

उसी समय से तापसाश्रम में रहकर तापसी बनकर तपश्चरण करने की प्रथा चल पड़ी है। आगे चलकर इस जमदग्नि तापसी के दो पुत्र हुए जिनके इन्द्र और श्वेतराम ये नाम रखे गये। इनमें से ही बड़े पुत्र ने अपनी परशु विद्या के प्रभाव से अयोध्या के राजा सहस्रबाहु को मारकर बहुत दिनों तक राज्य किया है और अपने राज्यकाल में इक्कीस बार क्षत्रिय वंश का निर्मूल नाश किया है। परशु विद्या के प्रभाव से परशुराम के नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुए। इस ऋषि पुत्र को सुभौम नामक क्षत्रिय पुत्र ने मारकर चक्रवर्ती पद को प्राप्त किया था।

विनोद–मित्र! वह तापस कितना मूर्ख था। देखो! बेचारा पुनः दीक्षित भी नहीं हो सका, पत्नी को छोड़कर ब्रह्मचारी भी नहीं बन सका, उसी गृहस्थावस्था में ही मर गया।

प्रमोद–हाँ मित्र! यदि वह चाहता तो पुत्र के जन्म के बाद भी पत्नी को

छोड़कर ब्रह्मचर्य व्रत लेकर साधु बन सकता था किन्तु भोगों की आसक्ति अति विचित्र है। पहले तो उसे देवों द्वारा कथित बात पर विश्वास नहीं करना चाहिए था क्योंकि ब्रह्मचर्य व्रत का तो महत्त्व है ही, साथ ही कौमार ब्रह्मचर्य का अतीव महत्त्व है। श्री गुणभद्र स्वामी ने कहा है–

अभुक्त्वापि परित्यागात्स्वोच्छिष्टं विश्वमासितम्।
येन चित्रं नमस्तस्मै कौमारब्रह्मचारिणे।।

आश्चर्य है कि जिन्होंने बिना भोगे ही सम्पूर्ण भोगों को उच्छिष्ठ समझकर छोड़ दिया है, ऐसे बाल ब्रह्मचारियों को मेरा नमस्कार है।

विनोद–इसलिये मित्र! जैन ग्रन्थों का अच्छी तरह से स्वाध्याय करना चाहिये, तभी सच्चे तत्त्वों का ज्ञान हो सकता है, अन्य ग्रन्थों से नहीं हो सकता है।

प्रमोद–हाँ, मित्र! अब आपको भी स्वाध्याय का नियम ले लेना चाहिये।

जिनेन्द्र भगवान के उपदेश के लाभ का फल

जो जिनेन्द्र भगवान के उपदेश को प्राप्त करके मोह, रागद्वेष को नष्ट कर देता है वह अल्पकाल में ही सर्व दुःखों से रहित मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। भाव यह है कि जो कोई भव्य जीव एकेन्द्रिय से विकलेन्द्रिय, फिर पंचेन्द्रिय, फिर मनुष्य होना इत्यादि दुर्लभपने की परम्परा को समझकर अत्यंत कठिनता से प्राप्त होने वाले जिनेन्द्र भगवान के उपदेश को प्राप्तकर व्यवहार और निश्चय रत्नत्रयरूप तीक्ष्ण खड्ग के द्वारा मोह, रागद्वेष रूप शत्रुओं को मार देता है। वही वीर पुरुष संपूर्ण दुःखों का क्षय करके अनाकुलतारूप, पारमार्थिक सिद्ध सुख को प्राप्त कर लेता है अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के उपदेश का सार यही है कि व्यवहार संयम के द्वारा निश्चय संयम को प्राप्त करके शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव करना। यदि सम्यग्दर्शन, ज्ञान को प्राप्त करके भी जीव संयमी नहीं हुआ और रागद्वेष मोह का नाश नहीं किया तो पुनः अत्यंत दुर्लभ जिनेन्द्रदेव के उपदेश रूप चिंतामणि को प्राप्त करके भी वह इच्छित फल रूप मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सका। अतः जिनोपदेश का फल मुक्ति को प्राप्त कर लेना है और उसके लिए संयम ही प्रधान कारण है। ऐसा समझना।

–प्रवचनसार